# गुरुकुल पत्रिका

## शोध पत्रिका

## MONTHLY RESEARCH MAGAZINE


सम्पादक

**डॉ० भारतभूषण विद्यालंकार**

वेदाचार्य एम. ए. पी-एच.डी.

प्रोफेसर—वेद विभाग

एवं

**निदेशक—श्रद्धानन्द वैदिक शोध एवं प्रकाशन केन्द्र**



## गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

| | | |
|---|---|---|
| मार्च, अप्रैल, मई, जून १९९६ | वर्ष-४७ | संयुक्तांक चैत्र,वैशाख,ज्येष्ठ,आषाढ २०५३ |

**मूल्य— २५ रुपये मात्र**

## सम्पादक मण्डल :




मुद्रकः- किरण प्रिंटिंग प्रैस, कनखल हरिद्वार ☎ : 425975

# विषय सूची :-

# श्रुति-सुधा

वाचस्पते पृथिवी नः स्योना योनिस्तल्पा नः सुशेवा।
इहैव प्राणः सख्ये नो अस्तु तं त्वा परमेष्ठिन् पर्यग्निरायुषा।

वर्चसा दधातु ॥ अथर्व १३.१ १७ ॥

हे (वाचस्पते) वाणी के स्वामिन् ! (न पृथिवी स्योना) हमारे लिए पृथिवी सुखकर हो। (योनिः स्योना) हमारे लिए हमारा घर सुखदायी हो। नः तल्पा सुशेवा) हमारे लिए बिछौने सुखदायी हो। (इह एव नः सख्ये प्राणः अस्तु) यहां ही हमारे सख्य में प्राण रहे। हे परमेष्ठिन् (तं त्वा अग्निः आयुषा वर्चसा परि दधातु) तुझको यह अग्नि आयु और तेज से धारण करें।

हे वाणी (वेद) के प्रकटकर्ता परमात्मन् ! अथवा आचार्य ! यह सम्पूर्ण बिस्तारवती भूमि हमारे लिए सुखदायी हो। इस राष्ट्र में हमारे लिए कहीं भी किसी भी प्रकार का दुख न हो। हमारे घर व हमारे विश्राम के क्षण व साधन हमारे लिए कल्याणकारी हों। हे परमात्मन् ! तुम्हारे सखा भाव से ही हमारे प्राण इस शरीर से संयुक्त है। हे परम सत्तावान् ! इस अग्नि के माध्यम से हम दीर्घायु एवं तेज को धारण करें।

# सम्पादकीय

वर्तमान में सम्पूर्ण राष्ट्र में जो उथल-पुथल मची है उसका मूल कारण है अलक्ष्मी! वह अलक्ष्मी है दूषित एवं भ्रष्ट तरीके से कमाया गया धन! व्यक्ति जिस समय इसका सचय करता है उस समय वह इसके परिणाम के प्रति बिल्कुल नही सोचता। इसका एक निश्चित विधान है क्योंकि धन की तीन ही स्थितियां होती है। दान-भोग और नाश। दान के प्रति हम उदासीन हो गए हैं। उदासीन ही क्यों उसके प्रति उपेक्षाभाव करने लगे है। भोग की एक सीमा है, परन्तु मनुष्य के लोभ की कोई सीमा नही है। अतः नाश ही उसका निश्चित परिणाम होता है। हमारे नेतृत्व की यह दुर्बलता जग-जाहिर हो रही है। अभी न जाने कितने पर्दे उठने शेष है।

यह देश सभी का पेट भरने में समर्थ है। परन्तु जब अन्न उत्पन्न करने का उद्देश्य सबका पेट भरना न होकर निर्यात करके पैसा कमाना हो, और वह पैसा विदेशी बैंकों में जमा करके राष्ट्र को नरक बनाता हो तो वह और भी निकृष्ट हो जाता है। नरक का अर्थ है नीचे गिरना इसकी भी कोई सीमा नही है। इस देश का आदर्श रहा है कि तेन व्यक्तेन भुंजीथा मागृधः कस्य स्विद्धनम्। अर्थो की क्षुधा का निवारण करके ही हम भोग करें। यह भूमि विश्व भरा है। यह सबका पेट भर सकती है। परन्तु लालसा एक की भी पूरी नही कर सकती है यह भोग की ओर खीचती हुई अप सस्कृति शीघ्र समाप्त होनी चाहिए। वेद के ऋषि के शब्दो मे हमे यही कहना चाहिए।

"या बिभर्ति बहुधा प्राणदेजत् सा नो भूमि र्गोष्वप्यन्ने दधातु"

# वैदिक सात मर्यादायें

डॉ॰ दिनेश चन्द्र 'धर्ममार्तण्ड'
गु॰ का॰ विश्वविद्यालय, हरिद्वार

विधाता की इस विभूतिमयी विश्वभूति में विविधता देखने को मिलती है। पदे-पदे परिवार समाज, संस्था और देश अपने-अपने नियम, कानून, व्यवस्था एव सिद्धान्तो मे आबद्ध दीखते हैं। नियमों के अनुसार समाज फलता-फूलता है। नियम रहित समाज जगली और उच्छृङ्खल हो जाता है और वहा अराजकतत्त्व स्वत: ही पैदा हो जाते है। वेद इन नियमो को 'मर्यादा' नाम से अभिहित करता है। आचार्य यास्क ने मर्यादा को सीमा का पर्यायवाची शब्द माना है। और इसका अर्थ इस प्रकार किया है—'सीमा मर्यादा। विरतिव्यति देशाविति'।[1] एक भाष्यकार के अनुसार 'मर्यादा' उसको कहते है जो मानव का नाश करे या खाये।[2] श्रीपाददा सातवलेकर के अनुसार पाप से बचने की व्यवस्था को 'मर्यादा कहते है।[3]

मनुष्य इस सृष्टि की सर्वोत्कृष्ट[4] सुव्यवस्थित और अङ्ग-प्रत्यङ्गो से सुघटित (मर्यादित) कृति है। वह मनुष्य समाज की एक इकाई है। उसको भी अपनी मर्यादा (सीमा) में रहना पड़ता है। जो व्यक्ति मर्यादा में रहता है, नियमो मे चलता है, वह मर्यादा पुरुषोत्तम कहलाता है। जिस प्रकार नदी का जल जब तक अपने तटो के मध्य मे, मर्यादा मे बहता है तभी तक वह जीवन दायिनी व्यक्ति के रूप मे स्वीकृत होता है। इसी प्रकार जब व्यक्ति सामाजिक सर्वहितकारी नियमों के पालन मे अनुशासित होकर कार्य करता है तभी वह अपने जीवन को तो महान बनाता ही है बल्कि अपने समाज देश और जाति को भी ऊचा उठाता है। वेद के अनुसार सदाचार की ये मर्यादाये सात है—

"सप्त मर्यादा कवयस्तत क्षुस्तासामेकामिदभ्यंहुरो गात्।
आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीडे पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ॥"

(ऋ १०.५.६, अथर्व. ५.१.६)

---

१. निरुक्त १ ६

२. देखो दयानन्द सस्थान, दिल्ली से प्रकाशित ऋग्वेद १०.५.६ का भाष्य।

३. देखो अथर्ववेद ५ १ ६ का सुबोध भाष्य।

४. नहि मानुषात् श्रेष्ठतर हि किञ्चित् (महाभारत)।

अर्थात् तत्वदर्शी ज्ञानियों ने सात मर्यादायें (पाप से बचने की व्यवस्थाऐं) बनाई है। उनमे से एक का भी जो कोई उल्लंघन करता है, वह पापी बनता है और जो मनुष्य सातो मर्यादाओ से बचता हुआ पाप का भागी नही बनता, वह निश्चय से जीवन के स्तम्भ, उच्चतम शक्ति के धाम और जहां अनेक मार्गों की विसृष्टि नही, ऐसे सर्वाधार परमेश्वर में और धारक शक्तियों मे स्थित होता है।

भाष्यकारो ने इन सात मर्यादाओं की भिन्न-भिन्न प्रकार से कल्पना की है। आ. यास्क ने अपने निरुक्त[1] मे इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए इन मर्यादाओं को इस प्रकार परिगणित किया है— "स्तेयं, तल्पारोहण, ब्रह्महत्यां, भ्रूणहत्या, सुरापान, दुष्कृतस्य कर्मणः पुनः पुनः सेवा, पातके ऽनृतोद्यम् इति।" (१) चोरी न करना (२) व्यभिचार न करना (३) ब्रह्महत्या न करना (४) गर्भपात (भ्रूणहत्या) न करना (५) मद्यपान न करना (६) किसी बुरे काम की आदत न पड़ना, और (७) पाप हो जाने पर झूठ न बोलना।

सायणाचार्य्य ने अपने ऋग्वेदकभाष्य मे इस मन्त्र का अर्थ करते हुए एक तो सात मर्यादाये वे ही स्वीकार की हैं जो आ यास्क ने लिखी है। दूसरे मनु आदि ने अपने शास्त्रो में जो त्यागने योग्य कामज और क्रोधज दोष लिखे है उनमे से प्रधान सात को छाँटकर उनके परित्याग को सात मर्यादाये माना है[2]। वे हमेशा बचना चाहिये इस प्रकार हैं[3]— (१) मद्यपीना (२) जुआ खेलना (३) स्त्रियों मे अत्यशक्ति (४) शिकम् खेलना (प्राणियो की हिंसा करना, मास-भक्षण करना) (५) निरपराध को दण्ड देना (६) कठोर वाणी बोलना, और (७) दूसरो पर मिथ्या दोषारोप करना।

---

१. नि० ६.२७

२. कामजेम्य. क्रोधजेम्यश्चोद् धूता. पानमक्षाः स्त्रियो मृगया दण्ड· पारुष्यमन्यदूषणमिति सप्त मर्यादा.। यद्वा 'स्तेय गुरुतल्पा-रोहण ब्रह्महत्या सुरापानं दुष्कृतस्य कर्मणः पुनः-पुनः सेवा पातके ऽनृतोद्यम्' (नि. ६ २७) इति निरुक्ते निर्दिष्टाः सप्तमर्यादाः। (द्र ऋ. १०.५.६, सायण भव्य।

३ पानमक्षाः स्त्रियश्चैव मृगया च यथाक्रमम्।
एतत्कष्टतम विद्याच्चतुष्क कामजे गणे॥
दण्डस्य पातन चैव वाक्पारुष्यार्थदूषणे।
क्रोधजेऽपि गणे विद्यात्कष्टमेतत्त्रिकं सदा॥ मनु. ७ ५१

आचार्य उद्गीय[1] ने यास्काचार्य द्वारा परिगणित और वेङ्कट[2] ने मनुमहाराज द्वारा प्रतिपादित मर्यादाये ही स्वीकार की हैं। चाहे हम यास्क का अर्थ स्वीकार करे और चाहे सायण उद्गीय एवं वेङ्कट का। सभी ने जो मर्यादायें प्रतिपादित की है वे पूरी तरह से अनुकरणीय एव पालन करने योग्य है। उनमे से किसी एक का उल्लघन करना भी हमारे जीवन को घोर पापी बनायेगा। उनमे से अधिकांश के या सबके उल्लघन का तो कहना ही क्या। आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति के शब्दो मे तब तो मनुष्य का जीवन पाप से सना हुआ हो जायेगा[3]। इन मर्यादाओ का उल्लंघन मानव को अधोगति की ओर ले जाने वाला है। जिससे जीवन का तात्पर्य संयम से रहना है। संयम से जीवन व्यतीत करने से जीवन का आधार शक्तिशाली होता है और उत्तम दीर्घ जीवन प्राप्त होता है। इसके साथ ही साथ जो धर्मानुकूल व्यवहार करके अपने जीवन का आधार स्तम्भ बनता है, वह सबके लिए उपमा देने योग्य परमात्मा के स्थान मे, स्थिर रहता है। यहा हम निम्न मर्यादाओ पर विस्तार से विचार करते हैं—

पहली मर्यादा है चोरी न करना, दूसरो का धन न चुराना। जो अपने अधिकार मे वस्तु है केवल उसका ही उपयोग करना। दूसरो की वस्तु ढेले के समान देखनी और समझनी चाहिए। जैसा कि कहा भी है— 'परद्रव्येषु लोष्ठवत्।' यजु ४०.१ 'मागृध कस्य स्विद्धनम्'-केअनुसार-दूसरे के धन को ललचाइ दृष्टि से नही देखना चाहिए। धर्मशास्त्र कहते हैं—

"अन्यायेनागता लक्ष्मी', खद्योत इव दीप्यते।
क्षणं प्रकाश्य वस्तूनि निर्वाणं केवलं तम.॥"

---

१. सप्त मर्यादा '' स्तेय तल्पारोहण ब्रह्महत्यां (या. ६ २७) इति। द्र.- ऋ १०.५ ६ पर उद्गीथभास्य।

२. कामजेभ्य: क्रोधजेभ्यश्नोद्धृता. 'पानम् अक्षा: स्त्रियो मृगया दण्ड पारुष्यं वाक्पारुष्यम् अर्थभूषणम् (मनुस्मृ० ७/४८,५०) इति सप्तमर्यादा: ''~। (देखो, ऋ. १०.५.६ पर वेङ्कटभास्य)।

३. वरुण की नौका, द्वि भाग, पृ० १७३

अन्याय से आया धन खद्योत (जुगनू) की न्याई चमकता है परन्तु देर तक प्रकाश कर पुन. अन्धेरा हो जाता है। अतः—

> अकृत्वा पर संतापं, अगत्वा खल न म्रताम् ।
> असत्यञ्च सताम्मार्गम्, यत्स्वल्प तद्वै वसु ॥"

किसी को कष्ट न देकर, दुर्जनो के सामने न झुककर, और सन्मार्ग को न छोड़कर जो थोड़ा भी कमाया जाता है, वही बहुत है।

योगदर्शन के अनुसार 'अस्तेय प्रतिष्ठिाया सर्वरत्नोपस्थानम्' (साधनपाद-३७)— चोरी न करने (की मर्यादा) मे स्थित हो जाने पर सब रत्न प्राप्त होने लगते है। संक्षेप में अस्तेय (चोरी न करने) का अर्थ यह है कि मन, वाणी और कर्म द्वारा चोरी न करना। मनुष्य अनुचित लोभ और राग न करे, चोरी न करे, डाका न डाले, घूस न लेवे, चोर बाजारी न करे, धोखा न देवे। इन सभी तथा इस प्रकार के कुकर्मो से बचना ही सात मर्यादाओ मे से पहली मर्यादा 'अस्तेय' है।

दूसरी मर्यादा है- व्यभिचार न करना, सदाचार का पालन करना। 'मातृवत्पर-दारेषु'–दूसरी स्त्रियो को माता के समान देखना चाहिए। यदि यह मर्यादा न हो तो समाज मे चरित्र हीनता फैल जावे। ऋग्वेद मे दुराचारी (व्यभिचारी) की बड़े ही कठोर शब्दो मे निन्दा की गई है—'मा शिश्न देवा अपि गुऋतं न.' (ऋ. ६.२१.५) अर्थात्, व्यभिचारी पुरुष तथा व्यभिचारिणी स्त्री सत्यधर्म यज्ञ के, अधिकारी नहीं बनते अथवा व्यभिचारी हमारे यज्ञ मे न आवे। 'अनर्वायच्छत दुरस्य वेदो घ्नञ्छिश्न देवा अभि वर्पसा भूत।' (ऋ. १०.९९.३)– वह कहीं न रुकने वाला (अनर्वा) इन्द्र व्यभिचारियो को मारकर, और उनके अनेको द्वारो वाले गढ़ों को तोड़कर धनो को दबा लेता है।' अतः धर्मशास्त्रो ने कहा है—

> नहीदृशमनायुष्य लोके भवति किञ्चन ।
> यादृश पुरुषस्येह परदारोपसेवनम् ॥ (मनु. ४.१३४)

अर्थात्, संसार मे आयु के घटानेवाला और कोई ऐसा पाप-कर्म नहीं है, जैसा कि पर स्त्री- सेवन।

> हरणं च पर स्वानां पादाराभिमर्षणम् ।
> सुहृदश्च परित्याग. त्रयो दोषा. क्षयावहाः ॥

दूसरों के धन को छीनना, दूसरों की स्त्रियों से संसर्ग करना और सुहृदों को त्यागना-ये तीनों दोष नाश करने वाले होते है।[1] अतः पुरुष को पुरुषोत्तम बनने के लिए आवश्यक है कि-वह मन से किसी को—

त्रीण्येव पदान्याहुः पुरुषस्योत्तमं व्रतम्।
न द्रुह्येच्चैव दद्याच्च सत्यं चैव परं वदेत्॥

धोखा न दे-शरीर से दान करे-और सदा सत्य वक्ता बने।

मनु महाराज ने व्यभिचारिणी स्त्री और परस्त्रीगामी व्यभिचारी पुरुष दोनों को ही महापापी माना है। ऐसे पुरुष और स्त्री अगले जन्मो मे घोर नीच योनियो मे जन्म लेकर बडे भारी कष्ट भोगते है। मनुस्मृति मे लिखा है कि व्यभिचारी पुरुष अगले जन्म मे ब्रह्मराक्षस[1] (प्रेतयोनिवाला ब्राह्मण) और व्याभिचारिणी स्त्री गीदड़ की योनि[2] प्राप्त करती है,' तथा 'पर स्त्री को लोभ देकर बलात्कार करना'[3] तथा 'किसी भी कन्या को दूषित करना अर्थात् उससे सम्भोग करना[4]' महापाप है।

तीसरी मर्यादा है सुरापान (मद्यपान) न करना। धर्मशास्त्रों के अनुसार सुरापान महापाप है[5]। क्योकि सुरा पीने के पश्चात् मनुष्य की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, और बुद्धि व शरीर उसके नियन्त्रण मे नही रहते जिसके फलस्वरूप उसके मन मे कुविचार आते, वाणी अपशब्द बोलती है, तथा वह कुकर्म करने लगता है। मनुष्य पवित्र कार्य तभी कर सकता हैं, जब उसकी बुद्धि पवित्र हो तथा उसका शरीर व मन उसके नियन्त्रण मे हो परन्तु मदिरापान के बाद तो मन, बुद्धि और शरीर तीनो ही कुमार्गी हो जाते हैं, अपवित्र हो जाते है, तथा नियन्त्रण से बाहर हो जाते हैं। ऐसी अवस्था मे मनुष्य कभी सत्कर्म नही कर सकता। वह जो कुछ भी सोचेगा, जो कुछ भी कहेगा और जो कुछ भी करेगा—वह सब अपवित्र होगा, कुकर्म होगा। अतः पाप होगा। गुरु नानक देव ने मदिरापान के सम्बन्ध मे कहा है—

---

१. मनु. १२.६०
२. वही ६.३०
३. वही, ११.५६
४. वही, ११ ६१
५. वही, ११.५४

माड़ी नशा शराब दा, उतर जाए परभात।
नाम खुमारी नानका, चढ़ी रहे दिनरात॥

इस प्रकार निष्कर्ष यह है कि चोरी करने वाले, मदिरा पीने वाले और वेश्यावृत्ति करने वाले महापापी हैं।[1] प्रस्तुत वेद-मन्त्र के अनुसार तो उपरोक्त सप्त मर्यादाओं में से यदि एक का भी कोई उल्लंघन करता है तो वह पापी कहलाता है।

चतुर्थ मर्यादा है जुआ न खेलना। वेद का उपदेश है कि "अक्षैर्मा दीव्यः, कृषिमित्कृषस्व" (ऋ. १०.३४.१३)– पासों से मत खेल, प्रत्युत खेती करके ईमानदारी से कमा और खेल।' जुआरी अपना सब-कुछ लुटा देता है। युधिष्ठिर और नल आदि राजाओं के राज्य, स्त्री आदि जुए के कारण लुटे। जुए से बेईमानी बढ़ती है। जुआ खेलना महापाप है। जुआरी मनुष्य का सारा परिवार दु:खी रहता है इस कारण जुआ कभी नहीं खेलना चाहिए।

पांचवी मर्यादा है कठोर वाणी न बोलना। मनुस्मृति में बताया गया है कि कठोर वाणी का प्रयोग बिल्कुल नहीं करना चाहिए। सत्य भी प्रिय ही बोलना चाहिए—

'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्,
न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।' (मनु. ४.१३८)

सन्त कबीर ने कहा है—

ऐसी वाणी बोलिए मन का आपा खोय।
औरन को शीतल करे आपहु शीतल होय॥'

हिन्दी के एक अन्य कवि ने दृष्टान्त देकर समझाया है कि—

"कौआ किसका धन हर लेता कोयल किसको दे देती है।
केवल मीठे वचन सुनाकर सबको वश में कर लेती है॥"

यह मधुर वाणी का ही प्रभाव है कि पत्थर दिल पुरुष भी पिघल जाते हैं। तभी तो इसकी महिमा में कहा गया है—

"पत्थर को पिघलाकर मोम बनाने वाली।
मुह खोलो तो तुम भी मीठी बोली बोलो प्यारे॥"

---

१. ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वाङ्गनागमः।
महान्ति पातकान्याहुः संसर्गश्चापि तैः सह॥ (मनु० ११.५४)

वेदों में ऐसे अनेक मन्त्र हैं जिनमें कठोर वाणी को छोड़कर मधुर वाणी प्राप्त करने की प्रार्थना है। जैसे— 'वाच वदत भद्रया'— वाणी से भद्र बोलो। 'वाचस्पते ! वाच नः स्वदतु— हे वाणी के पति ! हमारी वाणी मधुर हो। 'वाचं वदामि मधुमद्'— मैं वाणी से मधुर बोलूं। 'स्वाद्मान वाच'— वाणी हमारी मिठास से भरी हो। 'मधुमती वाचं वदतु' (अथर्व ३.३०.२) वह मधुर वाणी बोले।

महाराज भर्तृहरि के अनुसार वाणी एक ऐसा आभूषण है, जो कभी नष्ट नहीं होता। संस्कृत-वाणी ही पुरुष को अलङ्कृत करती है—

> केयूराणि न विभूषयन्ति पुरुषं, हारा न चन्द्रोज्ज्वला,
> न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं, नालङ्कृता मूर्धजा।
> वाण्येका समलङ्करोति पुरुषं, या संस्कृता धार्यते,
> क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं, वाग्भूषणं भूषणम्॥"

छठी और सातवीं मर्यादाएँ हैं— बारबार दुराचार न करना, और पाप होने पर असत्य बोलकर उसको न छिपाना। यास्क प्रतिपादित उपरोक्त सात मर्यादाओं में ये दोनों बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। मनुष्य के हाथ से किसी न किसी कारण पाप हुआ, तो वह यदि आगे बचने का यत्न करेगा, तो बहुत हानि की सम्भावना नहीं है। परन्तु यदि वह बारबार दण्ड मिलने या मना करने पर भी वही कुकर्म फिर करने लगा, तो उसकी अवनति की सीमा नहीं रह सकती। इसलिए उन्नति चाहने वाले लोगों को उचित है कि वे अज्ञान से एकबार दोषमय आचरण हुआ भी, तो उसको बारबार न करें और जो कुछ दुराचार अपनी असावधानी से होगा, तो उसको असत्य बोलकर छिपाने का भी यत्न न करें। क्योंकि ऐसा करने से वह कलंक बड़ा गहरा हो जाता है और इससे अधिक पाप होता जाता है। इसलिए दोष होने पर सत्य बोलकर उसको यथार्थ रूप में प्रकट करना ही उचित है। मनुष्य की उन्नति के लिए ये दोनों मर्यादायें अत्यन्त सहायकारी है, इसलिए कोई मनुष्य किसी भी कारण इनका उल्लंघन न करें।

**सात मर्यादाओं की अन्य कल्पना—** आचार्य प्रियव्रत वेद-वाचस्पति ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'वरुण की नौका' भाग दो में पृ० १७४ पर सात मर्यादाओं की कुछ अन्य ही प्रकार से व्याख्या की है। उन्होंने यजु०[1] ३४.५५ और अथर्व०[2] १०.८.९ के

---

१. सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे।

२. अत्रासत ऋषयः सप्तसाकम्।

अनुसार, शरीर में निवास करने वाले सात ऋषियों के आधार पर सात मर्यादाओं की कल्पना की है। ये सात ऋषि है आंख, कान, नाक, रसना त्वचा (पांच ज्ञानेन्द्रिय) मन और आत्मा। हमें संसार के समस्त पदार्थों का ज्ञान इन सात ऋषियों के द्वारा ही होता है। क्योंकि 'ऋषि' शब्द का अर्थ होता है देखने वाला[1]— जानने वाला। आ. यास्क ने सात ऋषियो का यही अर्थ किया है।[2] शरीर मे रहने वाले सात ऋषि अर्थात् ज्ञान के साधन इन सातो से भिन्न और कोई हो भी नही सकते। इन सातो ऋषियों के हमारे जीवन मे अपने-अपने निश्चित कार्य है। जिनसे हमारा जीवन चलता है। इन ऋषियो का अपना-अपना जीवनोपयोगी निश्चित कार्य ठीक प्रकार से, जैसा चाहिये वैसा, होते रहना तो मर्यादा है और इनका कार्य ठीक प्रकार से जैसा चाहिये वैसा, न होना मर्यादा का उल्लघन है। परमात्मा ने इन सातो को शरीर मे अपना-अपना काम सौंप रखा है। इनके उस काम का भली भाति होते रहना मर्यादा है। और उनका भली भांति न होना, इस प्रकार होना जिससे जीवन हीन, पतित और सकटग्रस्त हो जाये, मर्यादा का भग है।

ससार के जितने भी पाप है वे इन्ही सातो मर्यादाओ के भग से होते है। इनसे बाहर कोई पाप नही रह जाता। आ प्रियव्रत वेद वाचस्पति-कृत सात मर्यादाओ की यह व्याख्या स्वीकार कर लेने पर ये मर्यादाये एक निश्चित आधार पर आश्रित हो जाती हैं। फिर इनकी भिन्न-२ कल्पना करने की आवश्यकता नही रहती। नही तो सदा यह प्रश्न रहेगा कि अमुक-अमुक सात पापो का वर्जन ही मर्यादा क्यो है दूसरे पापो का क्यो नही ? फिर यह भी प्रश्न रहेगा कि भगवान् की बाधी हुई सात मर्यादाये कौन-सी है ? आचार्य जी की व्याख्या मे इन प्रश्नो का स्थान नहीं रहता। यास्काचार्य तथा सायणाचार्य द्वारा प्रतिपादित मर्यादाये तो उन मर्यादाओ के भग के कुछ स्थूल उदाहरण मात्र समझे जा सकते है।

---

१. ऋषिर्दर्शनात् स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यवः। (नि० २ ३)

२. सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तम्यात्मनि। (नि० १२ ४) आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति की व्याख्या मे इतना विशेष है कि उन्होंने 'विद्या' के स्थान पर आत्मा का ग्रहण किया है।

**उपसंहार—** परन्तु हम तो इन मर्यादाओ का भग प्रायः करते रहते हैं। और इसलिए पाप के भागी बनते रहते हैं। इस मर्यादा भग से– इस पाप में गिरते रहने से– हमारी रक्षा कैसे होगी ? पाप के इस मार्ग पर चलने से हमे कौन रोकेगा ? इस प्रश्न का उत्तर मन्त्र के उत्तरार्द्ध मे दिया गया है। मन्त्र कहता है कि मनुष्य को पाप के गड्ढे मे गिरने से रोकने- थामने वाला सहारा एक ही जगह है। वह जगह है प्रभु का आश्रय। इस आश्रय को ढूढने के लिए हमे कही दूर जाने की आवश्यकता नही है। प्रभु का यह आश्रय हमारे अत्यन्त समीप है। प्रभु हम सबके घट-घट के वासी है। उन्हे अपने हृदय मे ही पा लेना होना है। जब मनुष्य इस सहारे को पा लेगा, जब वह इस स्कम्भ से–स्तम्भ से–अपने आप को बांध लेगा तो विषयो की बाढ उसे पाप मे गिराने के लिये बहाकर नही ले जा सकेगी। पाप से बचने के लिए प्रभु का आचल पकड लेना ही एक मात्र रास्ता है जिस पर चलने से हम पाप से बच सकते है। परमात्मा से भिन्न पदार्थों की उपसना के जितने भी मार्ग है उन सबका हमे परित्याग कर देना होगा। अन्य सब मार्गो का परित्याग करके हमें प्रभु की उपासना मे प्रभु की सगति मे जाना होगा। तभी हमारा पाप से परित्राण हो सकेगा।[1]

सक्षेप मे सदाचार की ये मर्यादाये है। इनका उल्लघन करने से मनुष्य पापी होता है और इन मर्यादाओ मे रहने से मनुष्य पुण्यमार्गी होता हुआ उन्नति को प्राप्त करता है।

---

.१ वरुण की नौका, द्वि. भाग, पृ० १८२।

# स्वर्गीय पूज्य पिता पण्डित देश बन्धु विद्यालंकार के जीवन का संक्षिप्त परिचय

**जन्म १८९५ ७-६-९५** **मरण १९९६ ६-६-९६**

**लाल कुमार कश्यप**

सिर्फ छ या सात वर्ष की आयु मे सन् १९०२ के अन्दर बालक देश बन्धु ने गुरुकुल कागडी जो कागडी ग्राम के निकट घने जगलो के मध्य गगा की धाराओ के बीच स्थित है प्रवेश पा लिया था, प्रारभ से ही वो स्वामी जी को अत्यन्त प्रिय हो गये थे कारण स्पष्ट था एक तो उनको इस छोटी सी आयु मे अनेको श्लोक कन्ठस्थ थे, दूसरे अष्टाध्योयी भी उनको काफी याद थी ये सब बाबा जी ने उसी विद्वान पडित को घर ठहरा कर याद करवाया था वो चाहते थे उनका बालक विद्वान बलवान और धर्म निष्ठ बने पिताजी के पिता का पूरा नाम था शकर प्रसाद तिवारी वे कानपुर के पास किसी गाव क रहने वाले काश्तकार किसान के परिवार के थे धनाभाव के कारण उन्हे किसी ममरे मोसरे बडे भाई ने नौकरी के वास्ते कलकत्ते ले जाकर वायसराय से मिलता दिया वायसराय ने जब उनका कद, शरीर और पर्सनेलिटी के साथ ईमानदारी और सरल स्वभाव देखा तो इतना पन्सद आया की तत्काल उनको अपना पर्सनल खजाची (कैशियर) बनाकर अपने पास घर मे रख लिया इसके बाद उनको काम चलाऊ लिखना पढना सिखलाकर तहसीलदार बना दिया साथ ही पाच गाव बिहार प्रदेश मे टिकारी स्टेट मे आती नामक स्थान पर बोध गया से २० या पच्चीस मील की दूरी पर भेज दिया गया इससे पहले बाबा जी कलकत्ते मे रहते थे वही रहते समय एक दिन बाबा जी को दयानन्द सरस्वती के दर्शनो के अलावा उनका प्रवचन सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। तभी से ये सोचने लगे थे चलो मेरा जीवन तो वाय सराय की चापलूसी और जी हजूरी मे चला गया पर अपनी सतानो को ऐसा घिनोना काम जबरदस्ती नही करवाऊगा, कोई लडका जमीदारी करना चाहे तो भले ही करता रहे। इसी जमीदारी के समय सन् १८९५ मे पिताजी का जन्म हुआ था। बाबा जी ने अपने निश्चय के अनुसार बडे पुत्र देश बन्धु को दयानन्द जी के सच्चे शिष्य स्वामी श्रद्धानन्द जो तब मुन्शीराम कहलाते थे, उनके पास गुरुकुल कागडी हरिद्वार जाकर प्रतिबन्ध करवा दिया।

बाबा जी दादी जी का प्रण था, वह बार बार गुरुकुल आकर अपने बालक का मन उजार बढी करेगे इसके अनुसार वह चौदह वर्ष विद्याध्ययन के बीच सिर्फ एक या दोबार गुरुकुल आकर मिले थे। नवी दशवी मे आने के बाद पिताजी के हाथ एक जर्मन बाडी बिल्डर का चित्र लग गया जिसका शरीर और मसल्स साचे मे ढले हुए थे जो सुडोल और सुन्दर थे पिताजी इस तस्वीर को देखकर दिन रात यही सोचने लगे मुझे भी ऐसा बन जाना चाहिये ?

उन्ही दिनो स्वामी जी के बुलाने पर जगत प्रसिद्ध राममूर्ती पहलवान खेल तमाशे दिखलाने गुरुकुल आया उसको देखने के बाद तो पिताजी के मन मे यह बात जम कर बैठ गई, जब मैं साधारण सा नजर आने वाला राममूर्ती पहलवान भारतीय सैन्डो इतने करतब दिखला सकता है तो मैं क्या नही कर सकता ?

इसके बाद तीन चार लडको की टीम बनाकर स्वामी जी की अनुमती और आशीर्वाद के साथ खेलकूद जमनास्टिक व्यायाम और प्राणायाम के साथ धनुर विद्या के गहन अध्ययन के साथ अभ्यास शुरु कर दिया। स्नातक होकर निकालने के पूर्व और बाद मे भी उनके शारीरिक प्रदशनो वाले खेल गुरुकुल कालेजो मे विशेष स्थान रखते थे, जिनको समय समय पर महात्मा गाधी पण्डित जवाहर लाल नेहरू तथा लाड वेवल ने भी गुरुकुल आकर देखा था।

स्नातक बनने के बाद वे भारत वर्ष मे घूम-२ कर यह खेल दिखलाते रहे, पाच वर्ष बाद उनका विवाह पण्डित राम चन्द्र जी इगलिश टीचर की कन्या शकुन्तला देवी के साथ हो गया रामचन्द्र जी नाटन के राजा के पास फोरेस्ट अफसर थे, एक बार स्वामी जी का भाषण था प्रजा अपना पद छोडकर स्वामी जी के पास पच्चीस रुपये मासिक लेकर गुरुकुल की सेवा मे जुट गये साथ ही तन मन धन से अपना जीवन गुरुकुल को समर्पित कर दिया तभी तो बुद्ध देव विद्यालकार जो बाद में समर्पणा नन्द बन गये थे ऐसा यशस्वी पत्र प्राप्त हुआ था। अनेको वर्षो तक भारत वर्ष म धूम मचाने के बाद पिताजी पानी के जहाज द्वारा १६२६ मे अमेरिका के वास्ते प्रस्थान गये उस समय तक उनकी दो सन्ताने थी, बडे भाई जी वीर बन्धु और बहन चचल मेरा जन्म तो तीसरे भाई अभिमन्यु के बाद १६३१ मे हुआ था अमेरिका जाकर पिताजी ने एक वर्ष तक अपने खेलो प्राणायाम धनुर विद्या का ऐसा प्रदर्शन किया

की सारा युरोप चका चौंध होकर आश्चर्य में डूब गया था न्यूयार्क टाइम्स अच्छी अखवारों में प्राय इन खेलों की प्रशंसा के लेख छपते रहते थे, खेलों में विशेष खेल यह थे हाथी को बांधने वाली लोहे की जंजीर तोड़ना धनुष बाण से आंखों में पट्टी बंधवा कर शब्दभेदी वाण द्वारा सामने बैठे आदमी के चेहरे पर लगे चश्मे पर से दो मार कर एक साथ गिराना, दो दो मोटरे एक साथ रोकना तथा सामान से लदी गाड़ी या मोटर को अपने खुले सीने पर से उतरवाना इस प्रकार से स्पष्ट और चालाकी रहित खेलो को देखकर विदेशी लोग उनकी सिद्वता मान गये थे एक वर्ष से भी अधिक अमेरिका रहने के बाद पिताजी लगभग खाली हाथ लौटे थे हां इनाम के मैंडल सिक्के और सार्टीफिकेट पर्याप्त मात्रा मे साथ थे स्पष्ट है पैसा कमाना अथवा धनोपार्जन एक कला है, जिसको हर कोई नहीं जानता नाहीं ये सीखने से आती है।

अस्तु भारत लौटकर फिरसे खेलो का कार्यक्रम चल पड़ा जिसका समापन सन १६३१ मे जाकर हुआ, पिताजी को सर श्री राम ने दिल्ली क्लॉथ मिल, डी०सी०एम० मे बुलाया गया वह उनके नाम की शोहरत पढ और सुन चुके थे, बात आ जाने पर पिताजी कहा करते थे लाल तेरे जन्म के बाद मुझे यह स्थिर काम मिला है। मेरी पूरी सफलता के साथ ग्यारह व्यक्ति पिताजी मे डी०सी०एम० मे वेल फेयर अफसर का कार्य अकेले १४ विभाग सम्हलते रहे साधना मन्दिर व्यायाम शाला की स्थापना की जिसमे छोटे बड़े सभी बगैर भेदभाव से व्यायाम किया करते थे, उसी जगह आर्य समाज की स्थापना कर दी थी, पाच साल तक स्वयं जांघिया पहन कर व्यायाम करवाने के बाद यह काम ओम प्रकाश त्यागी को सोप दिया था, वह एम०ए० पास नौजवान पिताजी के पास काम खोजने आया था सात साल तक उन्होने व्यायाम करवाने के अलावा लाठी जमनाष्टिक आदि सिखलाने का काम किया था बाद मे ओम प्रकाश त्यागी ओम प्रकाश प्रसशोधी वनकर सार्वजनिक के प्रधान व मन्त्री भी बने थे ?

पण्डित इन्द्रजी के बार-बार बुलाने और आग्रह पर पिताजी कुछ शर्तों के साथ गुरुकुल कागड़ी एक बार फिर लौट आये, यहा आकर अपनी पसन्द की गउशाला बनबाई साई बाल मौन्टगुमरी बीशनी गाये लाये चारो तरफ फलो के वृक्ष लगवाये, अमन चौक से चारो तरफ पक्की सड़क का श्रमदान के साथ मिलकर निर्माण करवाया

सैकड़ो एकड़ खेती की जमीन खरीदवाई जिससे भीख मांगने या चन्दा करके गुरुकुल न चलना पड़े उसकी आय पर निर्भर होना चाहिए फिर दुख की बात है लोगो की असहमती और स्वार्थ पारायणता के कारण अपना दस वर्ष का काम ट्रैक्टर बीच में ही छोडकर अपने पुराने सहपाठी बिनायक राव विद्यालकार मुख्यमत्री आन्ध्र प्रदेश के बुलाने पर गुऊशाला खुलवाने के लिए हैदराबाद जा पहुचे जहा पच्चीस वर्ष तक रहकर अपनी गऊशाला खुलवाई गुरुकुल घटकेसर के आचार्य रहे फिर तीन वर्ष बाद हरिद्वार आये वानप्रस्थ आश्रम मे आकर अपने प्रवचनों और अनुमती से सबको लाभ पहुचाया।

माता जी पिताजी की आयु अधिक हो जाने से वह अस्वस्थ रहने लगे उनको सहारे की आवश्यकता हुई तब मैं उनका पुत्र लालकुमार सन् १९८४ मे अपना काम आई०टी०आई० ट्रांस्पोर्ट कम्पनी के मैनेजर शिवस्वयम छोडकर अपनी पत्नि रश्मि कश्यप की सहमती से हरिद्वार वानप्रस्थ आश्रम आ गया था और आज भी गुरुकुल कागड़ी पुस्तकालय मे काम कर रहा हू।

# विज्ञानवाद

**डॉ० भगवन्त सिंह**
तुलनात्मक धर्म एवं दर्शन अध्ययन शाला,
पं० रविशंकर शुक्ल विश्वविद्यालय
रायपुर (म०प्र०) ४९२०१०

विज्ञानवाद के अनुसार विज्ञान ही एक मात्र सत् है। विज्ञान के अतिरिक्त अन्य किसी भी पदार्थ की वास्तविक सत्ता नहीं है। चित, मन, विज्ञप्ति आदि विज्ञान के ही पर्याय हैं। इसके व्यावहारिक पक्ष को ध्यान मे रखकर इसे योगाचार भी कहा जाता है जबकी पाश्चात्य जगत मे इसे प्रत्ययवाद (**Idealism**) ही कहा जाता है जिसके अनुसार ज्ञाता और उसके अनुभवो (प्रत्ययो) के अतिरिक्त अन्य किसी की सत्ता नही है। बर्कले ने स्पष्ट कहा है कि इन अनुभवो (प्रत्ययों) के कारण-स्वरुप किसी भौतिक वस्तु की ज्ञाता-निरपेक्ष सत्ता सम्भव नहीं है।

सामान्यत: योगाचार विज्ञानवाद और बर्कले की प्रत्ययवादी अवधारणाओ मे समानता दिखती है। विज्ञानवादी चेतना से स्वतंत्र वस्तु का अस्तित्व नही मानते हैं तो बर्कले भी इसी प्रकार स्पष्ट रुप से मानते हैं कि वस्तुओ का अस्तित्व किसी ज्ञाता द्वारा उनके अनुभूत होने पर निर्भर है तथा ज्ञाता की चेतना से स्वतन्त्र उनका अस्तित्व नहीं है। इन समानताओ के होने के बावजूद योगाचार विज्ञानवाद एवं बर्कले की मौलिक अवधारणाओ मे अतर है और यही इस लेख का प्रतिपाद्य विषय है।

वस्तुत: प्रत्ययवाद के दो रूप है—

(१) ज्ञानमीमासीय प्रत्ययवाद और (२) तत्वमीमासीय प्रत्ययवाद। ज्ञानमी-मासीय प्रत्ययवाद इस प्रश्न का उत्तर देता है कि ज्ञान की प्रक्रिया मे ज्ञाता के संबध मे ज्ञेय पदार्थ की क्या स्थिति होती है। इस सिद्धात की मान्यता है कि ज्ञेय पदार्थ का अस्तित्व ज्ञाता पर ही निर्भर करता है। उसकी स्थिति ज्ञाता से स्वतत्र नहीं है। दूसरी तरफ तत्वमीमासीय प्रत्यवाद मौलिक सत्ता के स्वरुप से सम्बन्धित प्रश्न का उत्तर देता है। इस सिद्धात की मान्यता है कि मौलिक सत्ता का स्वरुप मन, चेतना या प्रत्यय अथवा बुद्धि का स्वरुप है। चू कि योगाचार विज्ञानवाद और बर्कले का प्रत्ययवाद दोनो ही ज्ञानमीमासीय प्रत्ययवाद के सिद्धात है, इसलिए भी हम इनका तुलनात्मक अनुशीलन (इस परिप्रेक्ष्य मे) करना अपेक्षित समझते हैं।[1]

---

१. केशोण्ड्रकप्रख्यमिदं मरीच्युदकविभ्रमात्।
त्रिभवं स्वप्नमायाख्यं············।। लंकावतार सूत्र– २/१५०।

योगाचार विज्ञानवाद के अनुसार विज्ञान ही एक मात्र सत् है। विज्ञान के अतिरिक्त अन्य किसी भी पदार्थ की वास्तविक सत्ता नही है। विविध वस्तुओ के नाम से अभिहित किये जाने वाले बाह्य जगत मे उपलब्ध विषयो का स्वतन्त्र अस्तित्व नही है। वे चित्तमात्र की प्रतिमाए (प्रतिविम्ब) है तथा मायामरीचिका के समान निस्स्वभाव एवं स्वप्नवत् निरुपाख्य है। इन्हे ही हम अज्ञानवश बाह्य वस्तु मान लेते है। चित्त या विज्ञान ही तदाकार प्रतिभासित होता रहता है। आचार्य वसुबन्धु ने स्पष्ट कहा है, "समस्त भासमान विषयो के असत् होने के कारण सब कुछ विज्ञप्ति मात्र ही है।[1]

योगाचार विज्ञानवाद की मान्यता है कि क्षणिक विज्ञानों के सतत् प्रवाह के अतिरिक्त अन्य कोई सांसारिक वस्तु नही है। किन्तु इस धर्म-नैरात्म्य का यह अर्थ नही है कि सर्वथा कोई भी धर्म नही हैं। इसका तात्पर्य केवल यही है कि सविकल्पक बुद्धि द्वारा कल्पित द्वैत यथा–विषय और विषयी, जगत और जीव आदि धर्म नही है। ये सब हमारे अज्ञान की परिणति है लोकोत्तर ज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् अनुभवसिद्ध जगत और उसके प्रपन्च का पूर्ण विनाश हो जाता है। त्रिंशिका मे आचार्य वसुबन्धु ने स्पष्ट किया है, "आत्मा तथा धर्म सम्बन्धी जो विविध उपचार किये जाते है वे विज्ञान परिणाम के अन्तर्गत आते हैं।[2]

विज्ञानवाद के अनुसार तत्वतः विज्ञान प्रवाह रुप होते हुए भी तीन रूपो मे अभिव्यक्त होता है और इन्ही तीनो रूपो को परिणाम कहा जाता है। ये है-विपाक, मनन तथा विषय-विज्ञप्ति।[3] विपाक को आलय विज्ञान, मनन को क्लिष्ट मन या सप्तम् विज्ञान तथा विषय विज्ञप्ति को प्रवृत्ति विज्ञान कहते है। विज्ञान के आठ प्रकार होते हैं— आलय विज्ञान, क्लिष्टमन, चक्षुविज्ञान, श्रोत्र विज्ञान, घ्राणविज्ञान, जीह्वाविज्ञान, काय विज्ञान और मनोविज्ञान। चक्षु विज्ञान सहित अंतिम छः प्रकार

---

१. विज्ञप्तिमात्रमेवैतदसदर्थावभासनात्। विन्शतिका काररिका–१

२. आत्मधर्मोपचारो हि विविधो यः प्रवर्तते।
विज्ञान परिणामेऽसौ ·······॥ त्रिंशिका कारिका-१

३. विपाको मननाख्यश्च विज्ञप्तिर्विषयस्य च। वही–१

सर्वास्तिवाद तथा स्थविरवाद परम्पराओं में भी स्वीकृत हैं किन्तु अन्य विज्ञानों के साथ-साथ आलय विज्ञान तथा क्लिष्ट मन की कल्पना मात्र विज्ञानवाद की ही कल्पना है। अर्थात् योगाचार विज्ञानवाद विज्ञान के सभी आठों प्रकारो को स्वीकार करता है।

अब एक सहज व स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि क्या इन सतत् प्रवाहमान क्षणिक विज्ञानों का कोई आधार भी है ? इस प्रश्न का उत्तर स्वीकारात्मक देते हुए योगाचार विज्ञानवाद स्पष्ट करता है कि न तो इन विज्ञानों का आधार कोई अलौकिक व अतीन्द्रिय सत्ता है और न ही कोई भौतिक वस्तु, वरन इनका आधार आलय-विज्ञान ही है। आलय का आशय गृह, स्थान अथवा आधार[1] है जब कि विज्ञान का आशय है- वह जो जानता है।[2] अर्थात आलय विज्ञान भी एक विज्ञान ही है किन्तु वह मूल विज्ञान है और अन्य सभी विज्ञानों का उत्पत्ति स्थान या आधार है। अन्य समस्त विज्ञान इसमे कार्यभाव से उपनिबद्ध होते हैं अथवा अन्य सभी विज्ञानो में यह कारणभाव से उपनिबद्ध होता है। आचार्य वसुवन्धु ने त्रिंशका मे आलय विज्ञान का बड़ा ही सुन्दर व स्पष्ट वर्णन किया है। उनके अनुसार आलय विज्ञान सभी धर्मो (विज्ञानो) को आश्रय तथा अनादिकालिक धातु है जिसके होने से ससार की प्रवृत्ति अथवा निर्वाण की प्राप्ति होती है।[3] चूंकि आलय विज्ञान मे संस्कार, वासना अथवा विपाक सगृहीत होते है इसलिए उसे गृह या सर्वबीज[4] भी कहते हैं।

अब एक अन्य प्रश्न उठता है कि चूंकि आलय-विज्ञान में सभी विज्ञानों के बीज विद्यमान रहते हैं इसलिए सभी विज्ञानो की उत्पत्ति एक साथ ही होनी चाहिए अथवा सभी विषयों का ज्ञान समग्र रूप से एक साथ ही होना चाहिए। योगाचार विज्ञानवादी इसका सन्तोषजक उत्तर देते हैं। उनके अनुसार जिस समय आलय विज्ञान में जितने विज्ञानो के कारण सन्निहित रहते हैं उस समय उसमे उतने ही

१. आलयः स्थानमिति पर्यायौ। विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि, ३६
२. विजानातीति विज्ञानम्। वही
३. त्रिंशिका, ३६
४. विपाकः सर्वबीजकम्। त्रि० का.-२

विज्ञानों की उत्पत्ति होती है। यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यद्यपि सभी विज्ञान-बीज या वासनायें आलय विज्ञान में विद्यमान रहती हैं किन्तु जिस क्रम से जिस क्षण जिस वासना का परिपाक हो जाता है उसी क्रम से उस क्षण वही विज्ञान उत्पन्न होता है। अत. विज्ञान की उत्पत्ति के लिए तत्सम्बन्धी वासना का परिपाक भी आवश्यक है। वासना की उपस्थिति मात्र ही पर्याप्त नहीं है।

पाश्चात्य दार्शनिक बर्कले भी ज्ञाता से स्वतन्त्र वस्तु के अस्तित्व को नहीं स्वीकार करते। वे मेज, पुस्तक आदि भौतिक वस्तुओं के अनस्तित्व का प्रतिपादन नहीं करते वरन् उनके अनुसार ऐसी किसी भी भौतिक वस्तु का अस्तित्व नहीं है जो ज्ञाता (आत्मा) से स्वतन्त्र (निरपेक्ष) होकर अस्तित्ववान हो। बर्कले यह मानते है कि यदि ऐसी किसी वस्तु का अस्तित्व है भी जो ज्ञाता से स्वतन्त्र हो तो भी समस्या में कोई अन्तर नहीं आता है क्योंकि उस परिस्थिति में हमें उसका ज्ञान नहीं हो सकता। विपरीततः जब हमें ज्ञान होता है तब हम उस वस्तु के साक्षात् सम्पर्क में नहीं होते। उनके अनुसार ज्ञाता और उसके प्रत्ययों के अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु का अस्तित्व नहीं है। बर्कले के अनुसार "मेज का अनुभव" कहना उचित नहीं है क्योंकि इसका आशय यह होगा कि पहले मेज है फिर उसका अनुभव। वे इसे भाषायी त्रुटि मात्र मानते हैं तथा इसे "मेज का अनुभव" न कहकर 'मेजानुभव" (Tablish Expesience) कहना उचित मानते हैं। वे भौतिक वस्तु का तात्पर्य इन्द्रियानुभव का समूह या परिवार (Group or fiomily of sinse-Experience) मानते हुए हमारे अनुभवो विज्ञानो या प्रत्ययो) के कारण स्वरुप किसी ज्ञाता-निरपेक्ष वस्तु के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। चूंकि प्रत्ययवाद अनुभव-निरपेक्ष सत्ता का निषेध करता है इसीलिए बर्कले भी मानते हैं कि "अनानुभूत (Uuperceived) भौतिक वस्तुओं का अस्तित्व है" यह कथन असगत (Repugnant) है

अब प्रश्न उठता है कि यदि अनुभवों के कारण-स्वरूप कोई ज्ञाता-निरपेक्ष भौतिक-वस्तु नहीं हैं तो इन अनुभवो का कारण क्या है ? बर्कले का स्पष्ट उत्तर है कि हमारे अनुभवो का मूल कारण ईश्वर है न कि कोई अनुभव स्वतंत्र भौतिक वस्तु। ईश्वर

स्वयं, बिना किसी माध्यम के, इन्हे हमारी आत्मा मे आरोपित करता है। अतः आत्मा (जीवात्मा और परमात्मा) तथा उसके अनुभवों के अतिरिक्त अन्य किसी की सत्ता नही है। ईश्वर (परमात्मा) असीमित आत्मा है तथा अन्य जीवात्माएँ सीमित। परमात्मा हमारे अनुभवों को उसी क्रम मे उत्पन्न करता है जिस क्रम मे हम उन्हे प्राप्त करते है। इस प्रकार बर्कले जड़-जगत का खण्डन कर "दृश्यता ही सत्ता" (Esse Est Pereipi) की स्थापना करते है।

तत्वमीमासीय प्रत्ययवाद को मानने पर यह आवश्यक नही है कि ज्ञान मीमांसीय प्रत्ययवाद को भी माना जाय जबकि ज्ञानमीमासीय प्रत्ययवाद के मानने वाले को तत्वमीमासीय प्रत्ययवाद स्वीकार करना ही पड़ता है। योगाचार एवं बर्कले दोनो ही यह मानते हैं कि वस्तुओ का अस्तित्व चेतना से स्वतन्त्र नही है इसलिए यह भी मानना पड़ता है कि वस्तुओं का मूल स्वरुप चेतना या प्रत्यय का रूप है। अर्थात दोनो ही ज्ञान मीमासीय प्रत्ययवाद को अपनाते है और परिणति तत्व-मीमासीय प्रत्ययवाद को अपनाने में होती है।

अब ज्ञान की वस्तुनिष्ठता (Objectioity of Knowledge) से संबधित चर्चा अत्यन्त प्रासगिक प्रतीत होती है। योगाचार विज्ञानवादी ज्ञान की वस्तुनिष्ठता "मानसिक सरचना" (Mental Struetune) मे पाते है जबकि बर्कले इस समस्या के समाधानार्थ ईश्वर की शरण मे जाते है और यह मानते है कि ज्ञान व्यक्ति (जीवात्मा) के प्रत्यय न होकर ईश्वर (परमात्मा) के प्रत्यय है। इस प्रकार बर्कले ज्ञान को आत्म-निष्ठता के दोष से बचाकर वस्तुनिष्ठ मानते है। यदि हम बर्कले की इस पलायनवादिता को ज्ञान की वस्तुनिष्ठता के परिप्रेक्ष्य मे स्वीकार कर ले तो भी प्रकारान्तर से बर्कले पर ज्ञान की आत्मनिष्ठता (Subjectivity of Knowledge) का आरोप सिद्ध होता है। चूकि प्रत्यय अभी भी किसी के मन के प्रत्यय ही रह जाते हैं भले ही वह मन ईश्वर का ही क्यो न हो, इसलिए प्रकारान्तर से इसे आत्मनिष्ठ प्रत्ययवाद कहा जा सकता है यद्यपि इस प्रकार का प्रकारान्तर दोष विज्ञानवाद पर भी लगाया जाता रहा है किन्तु ज्ञान की वस्तुनिष्ठता का सरचनात्मक भेद योगाचार और बर्कले के प्रत्ययवाद का मूल अन्तर है।

# हिन्दी साहित्योतिहास लेखन की मरम्मत

डॉ० सन्त राम वैश्य
रीडर, हिन्दी विभाग
गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय
हरिद्वार–२४६४०४

[१] इस्त्वार दला लितरेत्यूर ऐन्दूई ऐन्दुस्तानी **(Historidela literature Hindaui Hindustance)**

गार्सां द तासी

पेरिस विश्वविद्यालय में उर्दू के प्रोफेसर तासी (१७९४-१८७८ ई०) ने इसे फ्रेंच भाषा मे लिखा। इसका प्रभाव निस्कारण दो भागो मे प्रकाशित हुआ। पहला भाग १८३९ ई० मे और दूसरा भाग १८४७ ई० मे। पहले भाग मे कुल ७३८ कवियो और लेखको का परिचय है, जिनमे हिन्दी के केवल ७२ कवि है। दूसरे भाग मे कवियो व लेखको की रचनाओ के उदाहरण है जो फ्रेंच भाषा मे अनूदित है।

तासी का हिन्दुई से अभिप्राय हिन्दी से है जबकि हिन्दुस्तानी का उर्दू और पाकिस्तानी हिन्दी से।

तासी के ग्रंथ का द्वितीय संस्करण तीन भागो मे पेरिस से प्रकासित हुआ। प्रथम एवं द्वितीय भाग १८७० ई० मे तथा तृतीय भाग १८७१ ई० मे। तीनो भागो मे कुल १२२४ कवियो एवं लेखको का परिचय है। प्रथम सस्करण के द्वितीय भाग मे उदाहरण वाली जो सामग्री थी उसे द्वितीय संस्करण मे सम्बन्धित कवियो के विवरणो के पश्चात् संलग्न कर दिया गया।

डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय ने इस ग्रंथ में आए हिन्दी के कवियो एवं लेखको सम्बन्धी विवरण का हिन्दी अनुवाद हिन्दुई साहित्य का इतिहास नाम से किया है जो सन् १९५२ ई० मे हिन्दुस्तानी एकेडमी इलाहाबाद से प्रकाशित हुआ। इस अनुदित ग्रंथ में कुल ३५८ कवियो और लेखको का विवरण है जिनमे से शुद्ध साहित्य की सर्जन करने वाले मात्र २२० रचना कम है।

तासी की रचना कालक्रमानुसार न होकर लेखकों वर्णानुक्रम से है, जबकि इतिहास के लिए कालक्रम पहली शर्त है।

इसमें उर्दू के कवियों-लेखकों की संख्या बहुत अधिक है, हिन्दी के कवियों-लेखकों की बहुत कम।

इसमे तिथि सम्बन्धी, कवि नाम सम्बन्धी, ग्रंथ विवरण सम्बन्धी, तथ्य सम्बन्धी तथा भाषा सम्बन्धी बहुत सी अशुद्धियां मिलती है।

इसके बावजूद तासी के इस ग्रंथ का ऐतिहासिक महत्व है। यद्यपि तासी ने कालविभाजन नही किया है, तथापि उन्होने रचनाओं को विभिन्न वर्गों में रखने का प्रयास किया है। तासी ने काव्य का रूपात्मक एक वर्गीकरण भी प्रस्तुत किया है जो साहित्येतिहास मे मौलिक वस्तु है।

[२] 'तबकांतुश्शुअरा' या तजकिरा-ईशुअरा-ई-हिन्दी'

## (A History of Urdu Poets)

### मौलवी करीमुद्दीन

यह १८४८ ई० में देहली कालेज द्वारा प्रकाशित हुआ यह मुख्यालय तासी के ग्रंथ के प्रथम संस्करण का अनुवाद है। यह अनुवाद बिहार के शिक्षा विभाग के इंस्पेक्टर फैलन साहब ने किया। इस अनुवाद मे करीमुद्दीन ने बहुत कुछ अपनी और से जोड़ा है। यह जोड़ इतना अधिक है कि इसे अनुवाद नही कहा जा सकता तासी प्रथम संस्करण में कुल ७३८ कवि थे। करीमुद्दीन के इस तजकिरे मे कवि संख्या १००४ है। इनमे हिन्दी के कवियों की संख्या ६०-६२ ही है।

करीमुद्दीन अपने ग्रंथ को इतिहास का ठीक रूप नही दे सके। यद्यपि उन्होंने कालक्रम पर चलने का प्रयास आभाव किया है, पर इसमें उन्हे सफलता नही मिली है। उर्दू कवियों की अधिकता है। इनके बीच-बीच मे हिन्दी कवियों का विवरण है।

इस ग्रंथ का महत्व इस दृष्टि से है कि स्वयं तासी ने इस ग्रंथ का उपयोग अपने इतिहास ग्रंथ के द्वितीय संस्करण में किया है। मौलवी करीमुद्दीन ने अपने इस ग्रंथ मे यथासम्भव काल क्रम का भी ध्यान रखा है। साथ ही कवियों के जन्म-मृत्यु के संवतों उनके वैयक्तिक जीवन तथा काव्य संग्रहों का भी उल्लेख करने का प्रयास किया है।

[३] शिव सिंह सरोज — शिव सिंह सेंगर

सन् १८७७ ई० (डा० धीरेन्द्र वर्मा के मतानुसार) मे शिवसिंह सेंगर ने 'शिव सिंह सरोज' नामक इतिहास ग्रंथ नवल किशोर प्रेस लखनऊ से प्रकाशित कराया इस ग्रंथ में ८३८ कवियों की रचनाओं के नमूने एक मे दिये गए हैं जिनकी संख्या प्रायः दो हजार है। काव्य संग्रह के उपरान्त ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध में १००३ कवियों का जीवन चरित्र भी अकारादि क्रम से दिया गया है।

शिव सिंह सरोज में काल विभाजन का स्पष्ट निर्देश नहीं है। कवियो का परिचय काल क्रमानुसार नहीं, बल्कि अकारादि क्रम से दिया गया है। इसके साथ ही इसमें वर्णानुक्रम सम्बन्धी, संख्या व पृष्ठ निर्देशन सम्बन्धी, मुद्रण सम्बन्धी, सन्-सवत् सम्बन्धी, कवियों के नाम एवं उनके व्यक्तित्व सम्बन्धी तथा तथ्य सम्बन्धी अशुद्धियां भी देखने को मिलती हैं।

इसके बावजूद सरोज को हिन्दी साहित्येतिहास का प्रस्थान बिन्दु माना जा सकता है सेंगर जी ने अपने समय तक उपलब्ध हिन्दी कविता सम्बन्धी ज्ञान को संकलित किया है। सेंगर जी को इतिहास बोध भी था। ग्रंथ की भूमिका के अन्तर्गत एक-एक शती में होने वाले कवियों की परिगणना की गई है जिससे यह संकेत मिलता है कि संग्रहकर्त्ता के मन मे शताब्दियों से अनुसार विभाजन करने की योजना थी। ग्रिमसन ने अपने इतिहास ग्रंथ के अधिकांश कवियों का विवरण सरोज से ही लिया है। मिश्र बन्धु, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा अन्य परवर्ती इतिहास लेखको ने इस ग्रंथ से सहायता ली है।

[४] द माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑफ हिन्दुस्तान

आर्ज अब्राहम ग्रिमर्सन

यह ग्रंथ सर्वप्रथम द जर्नल आफ द रायल एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल (भाग-१, सन् १८८८) के विशेषांक रूप में प्रकाशित हुआ। तदनन्तर १८८९ ई० में इसी संस्था से पुस्तक रूप में प्रकाशित हुआ। इसमें कुल ९५१ कवियों का विवरण है। ग्रिमर्सन ने हिन्दुस्तान शब्द का प्रयोग हिन्दी भाषा-भाषी प्रदेश के अर्थ में किया

है। इस ग्रंथ मे मारवाडी, ब्रजी अवधी तथा बिहारी के लिखित साहित्य का उल्लेख है। ग्रंथ को प्रस्तुत करने मे शिव सिंह सरोज से सर्वाधिक सहायता ली गयी है।

ग्रियर्सन के इतिहास मे तथ्य सम्बन्धी, सन संवत सम्बन्धी व नाम सम्बन्धी अनेक अशुद्धिया मिलती हैं। कही कही 'सरोज' का सीधा अनुवाद कर दिया है। यद्यपि ग्रीयसन ने काल विभाजन करने का प्रयास किया है, पर वह किसी वैज्ञानिक पद्धति पर आधारित नही है। उसमे बिखराव है।

इसके बावजूद ग्रियसन के इतिहास का ऐतिहासिक महत्व है। इसकी कई विशेषताए हैं—

१ हिन्दी साहित्य के इतिहास के विभिन्न काल विभाग किये गये हैं।

२. कवियो का विवरण कालक्रमानुसार प्रस्तुत किया गया है।

३ कुछ कालो की सामान्य प्रवृतिया भी दी गयी हैं।

४. प्रत्येक कवि की एक सख्या दी गयी है। बड़ी आसानी से उस कवि को उस सख्या पर देखा जा सकता है।

५ १८ महत्वपूर्ण कवियो का विवरण मर्यादा विस्तार से दिया गया है।

६. सरस तथा साहित्यिक शैली में कुछ कवियो की आलोचना भी प्रस्तुत की गयी हैं।

७ इस ग्रंथ के माध्यम में ग्रियसन ने साहित्योतिहास मे तुलनात्मक आलोचना-पद्धति की नीव डाली।

८ ग्रियसन ने ही सर्वप्रथम भक्तिकाल को स्वर्ण युग कहा। चारण काव्य और निति काव्य नामो का प्रयोग सवप्रथम इन्होने ही किया।

ग्रियसन का इतिहास नीव का वह पत्थर है जिस पर आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास का भव्य भवन निर्मित किया। इसने मिश्रबन्धु विनोद और शुक्ल जी के इतिहास को प्रभावित किया। किशोरी लाल गुप्ता ने इसका हिन्दी अनुवाद हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास नाम से किया है जो सन १९५७ ई० मे प्रकाशित हुआ।

[५] 'मिश्रा बन्धु विनोद अथवा हिन्दी साहित्य का इतिहास तथा कवि कीर्तन मिश्रा बन्धु (पं० गणेश बिहारी मिश्रा तथा रायबहादुर डा० शुकदेव बिहारी मिश्रा)

'मिश्रा बन्धु विनोद' चार भागों में प्रकाशित हुआ। इसके तीन भागों का प्रकाशन १९१३ ई० में तथा चौथे भाग का प्रकाशन १९२४ ई० में हुआ। चारों भागों मे कुल मिलाकर ४५९१ कवियों एवं लेखकों का विवरण संगृहीत है। श्याम बिहारी मिश्रा तथा शुकदेव बिहारी मिश्रा सन् १९०६ से १९१६ तक नागरी प्रचारिणी सभा मे हस्तलिखित हिन्दी ग्रंथों के खोज कार्य के निरीक्षक थे। अतः सभी उपलब्ध सामग्री का लाभ उठाया। विभिन्न साहित्य प्रेमी बन्धुओं ने इनके पास पर्याप्त सामग्री भेजी थी।

यद्यपि मिश्र बन्धुओं ने अपने 'विनोद' में हिन्दी साहित्योतिहास का लम्बा-चौड़ा काल विभाजन प्रस्तुत किया है किन्तु वह विभाजन किसी सुनिश्चित आधार पर नहीं है। इसके लिए जो मानदण्ड अपनाये गए हैं उनमें युग एवं कवि के अनुरुप उल्ट-फेर भी किया गया है। मिश्र बन्धुओं ने साहित्यिक मूल्यांकन में प्राचीन समालोचना पद्यति का आश्रय लिया है।

इतना होने के बावजूद इस ग्रंथ की कई महत्वपूर्ण विशेषताएं हैं—

१. इसमें सामग्री का विपुल सम्पन्न किया गया है।
२. इसमें प्रमुख कवियों के विवरण समालोचना सहित विस्तारपूर्वक दिये हैं।
३. प्रत्येक कवि की एक सुनिश्चित सख्या।
४. साहित्य के विविध अंगो पर प्रकाश डाला गया है।

आचार्य शुक्ल ने मिश्राबन्धुओं के इतिहास से काफी सहायता ली है—"कवियों के परिचयात्मक विवरण मैंने प्रायः मिश्राबन्धु विनोद से ही लिए हैं।"

[६] ए स्केच आफ हिन्दी लिटरेचर
पादरी एडविन ग्रीव्ज

११२ पृष्ठों का यह इतिहास ग्रंथ १९१८ ई० में प्रकाशित हुआ। इसमें पिछली सभी सामग्री से सहायता लेकर साहित्यिक गतिविधियों का परिचय दिया गया है। इसमें काल विभाजन भी है जो ग्रियर्सन का प्रतिबिम्ब है। ग्रीव्ज ने पहली बार हिन्दी साहित्य के इतिहास मे हिन्दी भाषा के इतिहास को भी स्थान दिया है।

[७] ए हिस्ट्री ऑफ हिन्दी लिटरेचर
पादरी एफ० ई० की (F.E. Keay)

यह ग्रंथ १६२० ई० मे प्रकाशित हुआ। इसमे हिन्दी भाषा और साहित्य का सामान्य सर्वेक्षण प्रस्तुत करते हुए काल विभाजन एव नामकरण का सार्थक प्रयास किया गया है। नामकरण मे कृतिकार, कृति, इतिहास, भाषा तथा प्रवृत्ति को आधार बनाया गया है।

[८] हिन्दी साहित्य का इतिहास
आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

यह १६२६ ई० मे प्रकाशित हुआ। आचार्य शुक्ल की सूचना के अनुसार इसका प्रारूप छात्रों के उपयोग के लिए सक्षिप्त नोट के रूप मे तैयार किया गया था जो बाद मे कुछ सशोधनोपरान्त कभी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी शब्द सभा' की भूमिका के रूप मे हिन्दी साहित्य का विकास' शीर्षक से १६२६ ई० मे प्रकाशित हुआ तदनन्तर उसी वर्ष कुछ और सशोधन तथा परिवर्धन के साथ सभा से ही 'हन्दी साहित्य का इतिहास' नाम से पुस्तक रुप मे प्रकाशित हुआ। पुन १६४० ई० मे इसका सशोधित और परिवादित सस्करण निकला। यही सस्करण सर्वाधिक प्रचलन मे है। आचार्य शुक्ल के इस इतिहास ग्रन्थ को सर्वाधिक लोक–प्रियता मिली। साहित्य मनीषियो ने इसे हिन्दी का प्रथम सुव्यवस्थित इतिहास कहा है। इसके गुणदोषो की भी बहुत चर्चा हुई। यद्यपि यह ग्रन्थ अपने मे सर्वांगपूर्ण नही है फिर भी इसका अपना साहित्यिक एव ऐतिहासिक महत्त्व है। शुक्ल जी के बाद के सभी इतिहासकारो ने इसे अपना-अपना ग्रंथ माना है। आज भी शुक्ल जी का इतिहास मील का वह पत्थर है जिसे कोई अपनी जगह से हटा नही सका है। आज भी इतिहास लेखको के लिए यह प्रकाश स्तम्भ का कार्य कर रहा है।

[६] हिन्दी भाषा और साहित्य
बाबू श्याम सुन्दरदास

यह ग्रन्थ १६३० ई० मे निकला, जो बाद मे 'हिन्दी भाषा' और 'हिन्दी साहित्य' नाम से अलग-अलग प्रकाशित हुआ। कुछ विद्वानो ने इनके इस इतिहास ग्रन्थ की प्रशसा की। पर इसमे आचार्य शुक्ल जैसी गहराई और प्रतिपादन कुशलता नही मिलती इनके कालविभाजन पर भी आचार्य शुक्ल की स्पष्ट छाप है।

[१०] हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास
सूर्यकान्त शास्त्री

यह इतिहास ग्रंथ सन् १९३० ई० में प्रकाशित हुआ। इसमें प्रमुख कवियों पर लम्बी एवं तुलनात्मक समीक्षा प्रस्तुत की गयी है। शास्त्री जी का वर्गीकरण पादरी एफ०ई० की से प्रभावित है। इस ग्रंथ की भाषा की चमत्कार वृत्ति की ओर अधिक उन्मुख है।

[११] हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का विकास
अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध

हरिऔध जी ने पटना विश्वविद्यालय में हिन्दी भाषा और साहित्य के सम्बन्ध मे कुछ भाषण दिये जो १९३१ ई० मे 'हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का विकास' नाम से पुस्तक रूप में प्रकाशित हुए। इसमें कवियों की भाषा के सम्बन्ध में विशेष कथन है। कुछ उदाहरण भी दिये गये हैं। सन्-संवतों का अभाव इसका बहुत बड़ा दोष है।

[१२] हिन्दी साहित्य का इतिहास
रामशंकर शुक्ल 'रसाल'

यह ग्रंथ १९३१ ई० में प्रकाशित हुआ। ग्रंथ के आरम्भ में साहित्येतिहास पर विस्तार से चर्चा की गई है। कुछ इसमें पूर्ववर्ती इतिहास ग्रंथों की आलोचना भी है। कुछ महत्वपूर्ण कवियों पर इन्होंने सतही विचार व्यक्त किये हैं। इनका इतिहास आचार्य शुक्ल के इतिहास से अत्यधिक प्रभावित है।

[१३] हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास
डा० रामकुमार वर्मा

यह ग्रंथ १९३८ ई० में प्रकाशित हुआ। इसमें संवत् ७५० से १७५० तक के कालखण्ड को ही लिया गया है। वर्मा जी ने कालविभाजन एवं नामकरण मे आचार्य शुक्ल का ही अनुकरण किया है। इन्होने वीरगाथा काल को चारणकाल नाम दिया है

और उससे पूर्व एक सन्धिकाल और जोड़ दिया है। ज्ञानाश्रयी और प्रेममार्गी शाखा की जगह संतकाव्य और प्रेमकाव्य नाम का प्रयोग किया हैं। स्वयं को हिन्दी का प्रथम कवि मानते हुए वर्मा जी ने हिन्दी साहित्य का आरम्भ ६९३ ई० से स्वीकार किया है।

विद्वानो ने इस इतिहास ग्रंथ को आचार्य शुक्ल के इतिहास के गुण दोषों का विस्तार माना है। कवियों के मूल्यांकन में वर्मा जी ने सहृदयता और कालात्मकता का परिचय दिया है। इसी कारण यह ग्रथ को पर्याप्त लोकप्रियता भी मिली। विस्तृत सामग्री भी इसकी महत्ता का एक प्रमुख कारण रही है।

[१४] हिन्दी साहित्य का इतिहास

मिश्रा बन्धु

यह गंगा पुस्तक कला लखनऊ से १९३९ ई० मे प्रकाशित हुआ। इसे 'मिश्रबन्धु विनोद का संक्षिप्त रूप माना जा सकता है। इसका ढांचा भी मिश्राबन्धु विनोद जैसा ही है।

[१५] हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास

चतुरसेन शास्त्री

यह १९४६ ई० में प्रकाशित हुआ। लेखक के अनुसार—"इस ग्रंथ में मैंने अपने पूर्णवर्ती और समकालीन प्राय ! सब हिन्दी इतिहास–लेखको की प्रचलित परम्परा का उल्लंघन करके अपने कुछ नए ऐतिहासिक दृष्टि कोण निर्धारित किये हैं, और उनके समर्थन में इतिहास की सामाजिक और राजनीतिक पृष्ठभूमि की रेखाए दी है।" पर ग्रंथ को पढने से ग्रथकार की किसी मौलिक धारणा का परिचय नही मिलता।

[१६] १– हिन्दी साहित्य की भूमिका (१९४० ई०)

२– हिन्दी साहित्य का आदिकाल (१९५२ ई०)

३– हिन्दी साहित्य ,' उसका उद्भव और विकास (१९५५ ई०)

हजारी प्रसाद द्विवेदी

हिन्दी साहित्य की भूमिका मे द्विवेदी जी की साहित्योतिहास लेखन सम्बन्धी मौलिक दृष्टि का परिचय मिलता है। इसमे हिन्दी साहित्य को भारतीय चिन्तन आधार के साथ जोडकर उसका मूल्याकन करने की बात उठायी गई है। इस ग्रथ मे द्विवेदी जी ने शुक्ल जी की कई मान्यताओ का खण्डन किया है।

'हिन्दी साहित्य का आदि काल' इसी क्रम की दूसरी महत्त्वपूर्ण कड़ी है। इसमे भी द्विवेदी जी ने अपनी मौलिक दृष्टि का परिचय देते हुए आदि कालीन हिन्दी साहित्य विषयक कई भ्रातियो का निराकरण किया है। डा० हरमहेन्द्र सिंह बेदी के शब्दो मे—"भाषण शैली मे लिखा गया यह ग्रथ मध्ययुगीन भाषा काव्य की आन्तरिक चेतना और बाह्य स्वरुप तथा उसके विकास को समझने की कुंजी है।" (हिन्दी साहित्योतिहास : पश्चात्म स्रोतो का अध्ययन पृ०-६८)

'हिन्दी साहित्य: उसका उद्भव और विकास' विद्यार्थियो को ध्यान मे रखकर लिखा गया है। इसमे सुबोध भाषा में हिन्दी साहित्येतिहास के विभिन्न कालखण्डों की साहित्यिक प्रवृत्तियो का विवेचन करते हुए तद्युगीन साहित्य का परिचय दिया गया है।

[१७] 'हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास

डा० गणपति चन्द्र गुप्ता

इसका प्रकाशन १९६५ ई० में हुआ। इसमे गुप्ता जी ने वैज्ञानिक दृष्टि से हिन्दी साहित्येतिहस की परख की है। इतिहास की वैज्ञानिक व्याख्या मे इन्होने विकास-वादी सिद्धांत को आधार बनाया है। इनके ग्रन्थ में इतिहास दर्शन की विस्तृत पीठिका भी है। गुप्त जी ने हिन्दी साहित्य को तीन काल खण्डो मे विभक्त किया है—

१— प्रारम्भिक काल (११८४-१३५० ई०)

२— मध्यकाल (१३५०-१८५७ ई०)

३— आधुनिक काल (१८५७ से अब तक)।

"मैंने इन कालखण्डों के नामकरण में ऐसी सामान्य संज्ञाओं का प्रयोग किया है जिससे हिन्दी साहित्य को सम्पूर्ण एव व्यापक रुप मे तथा उसकी विभिन्न प्रवृत्तियों को सर्वांगीण रुप में प्रस्तुत किया जा सके।"

(प्रथम सस्करण की भूमिका)

कुछ विद्वानों ने डा० गुप्त के इतिहास के व्यवहारिक पक्ष की आलोचना की है। पर इतना तो मानना ही चाहिए कि डा० गुप्त ने अपने इस इतिहास ग्रंथ के माध्यम से वैज्ञानिक अध्ययन पद्धति के द्वारा खोले है और अनुसंधान के आयामो को विकसित किया है।

**सम्पादित इतिहास ग्रंथ —**

[१८] हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास (१६ भागो मे)
नागरी प्रचारिणी सभा, काशी

ना० प्र० सभा ने हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास सोलह भागो मे प्रकाशित किया है। प्रत्येक भाग अलग-अलग विद्वानो के सम्पादन म तथा विभिन्न लेखको के सहयोग से निर्मित हुआ है। इतिहास के स्थूल ढाचे के रूप मे इसमे आचार्य शुक्ल के इतिहास को ही किंचित् संशोधन के साथ अपनाया गया है। इसके कुछ भाग काफी लोकप्रिय हुए हैं। इस इतिहास ग्रथ मे एकरुपता, अन्विति तथा सजीवता की कमी है।

[१९] हिन्दी साहित्य (३ खड) सामा० डा० धीरेन्द्र वर्मा
भारतीय हिन्दी परिषद, इलाहाबाद

इसमे हिन्दी साहित्य को तीन कालों आदिकाल, मध्यकाल तथा आधुनिक काल- मे विभाजित करते हुए प्रत्येक काल की काव्य परम्पराओं का विवरण अविच्छिन्न रूप में प्रस्तुत किया गया है। साथ ही ग्रथ मे नवीन उपलब्ध शोध सामग्री का भी उपयोग किया गया है। इस ग्रन्थ मे विभिन्न अध्यायों के विभिन्न लेखक हैं जिनहोने विभिन्न दृष्टियो और पद्धतियो का उपयोग किया है जिससे इसमे एक रुपता, अन्विति तथा सश्लेषण का अभाव मिलता है।

[२०] हिन्दी साहित्य का इतिहास-सम्पादन डा० नगेन्द्र

इसका प्रथम सस्करण १९७३ ई० मे निकला यह एक सम्पादित ग्रन्थ है जिसका सकलन अनक लेखको के सहयोग से हुआ है। सम्पादक के अनुसार सभी लेखक अपने विषय के अधिकारी विद्वान है और उन्होने अपने लेखन मे नवीन शोध परिणामो का विवेक पूर्ण उपयोग किया है। ग्रथ मे सम्पादक ने एकरूपता स्थापित करने का भरसक प्रयास किया है। पर 'पचायती' कार्य की कमिया इसमे भी कहीं-कहीं देखने को मिलती हैं। छात्रो के बीच यह इतिहास काफी लोकप्रिय है।

हिन्दी साहित्येतिहास सम्बन्धी विवेचना मे आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्रा के 'हिन्दी साहित्य का अतीत भाग- १, २ तथा डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी के 'हिन्दी साहित्य और सवेदना का विकास' ग्रथ की भी चर्चा होनी चाहिए।

मिश्रा जी ने आचार्य शुक्ल के इतिहास की सीमाओं-संभावनाओं को दृष्टि में रखकर हिन्दी 'साहित्य के अतीत' की रचना की। इसमें उन्होने हिन्दी की व्याप्ति, साहित्य की निरुक्ति और अतीत की अलक्षित विशेषताओ को दृष्टि मे रखकर उन विवेच्य विषयों पर विचार किया है जिनके नियत रूप मे मतभेद है। मिश्रा जी ने अद्यतन पौधो के आधार पर इतिहास सम्बन्धी कई भ्रांतियो का निराकरण करते हुए तत्सन्बन्धी विवादो पर तथ्यपरक निर्णायक टिप्पणियां दी हैं। इनका इतिहास ग्रथ श्रृंगार काल तक ही सीमित है।

'हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास' का प्रथम संस्करण १९८६ ई० में निकला। इसमे हिन्दी साहित्य के साथ उसकी संवेदना के इतिहास को भी रेखांकित किया हैं। लेखक के अनुसार-"भाषा साहित्य और संस्कृति के अन्तर सम्पर्क में हिन्दी क्षेत्र और वहां के जन समुदाय की सवेदना कैसे विकसित होती गई है, और साहित्य उसे किस रुप मे प्रतिफलित करता है, यह इस समूचे अध्ययन की अतर्वस्तु है।

(आमुख)

अभी तक के इतिहासों में सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का विवेचन अलग से होता रहा है, और साहित्य-छाया का दिग्दर्शन अलग से। इस इतिहास मे पहली बार साहित्य और संवेदना को एक साथ देखा-परखा गया।

शुक्ल जी के बाद शताधिक छात्रोपयोगी सक्षिप्त, सुबोध, समग्र तथा प्रवृत्तिपर, इतिहास ग्रथ लिखे गए, पर उनका विवेचन करना यहा अभीप्ट नही है।

विभिन्न काल खण्डो, प्रवृतियों तथा विद्याओं पर भी कई अच्छे इतिहास ग्रंथ लिखे गए है। इन सबकी अपनी अच्छाइयां हैं और सीमाएं भी। हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की प्रक्रिया निरन्तर जारी है।

★

# महात्मा गांधी

## सत्यं और अहिंसा का मसीहा

## Prophet of Non-Violence & Truth

**मुकेश चन्द्र डिमरी**
क्षेत्रीय युवा कल्याण अधिकारी
पौडी–गढवाल

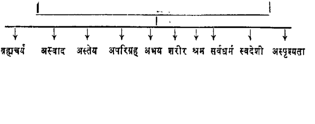
आधुनिक भारतीय विचारकों में मोहनदास करमचन्द गांधी (सन् १८६९-१९४८) को अनन्य स्थान प्राप्त है। गांधी जी एक शास्त्रीय दार्शनिक नही थे परन्तु उन्होने दो सद्गुणो सत्य के प्रति निष्ठा तथा प्राणिमात्र के प्रति प्रेम का परीक्षण करके एव अपने व्यवहारिक जीवन मे इसे ढाल कर अपने आप को भारत के ही नही अपितु विश्व के महान् चिन्तकों की पक्ति में अपना स्थान बना लिया है।

महात्मा गांधी पर उपनिषद, गीता, रामायण और अन्य भारतीय धर्म ग्रथो के अतिरिक्त पश्चिम के मैक्समूलर की **'India; what it can Teach us'** (इंडिया हाट इटकैन टीच अस) आर्नल्ड की **'Light of Asia'** एनी बैसेन्ट की **'How Ibecame a Theosophest'**

रस्किन की **'Unto This Last'** कार्लाईल की **'Heroes and Hero Worship'** की पुस्तको ने भी प्रभावित किया। गांधी की कृतिया है –**'An Autobiography' 'Hindudharm' 'Discourses on the Bhagwadgita'** गाधी जी के विचारो को मुख्यत: तत्व सम्बन्धी नीति सम्बन्धी एव समाज सम्बन्धी विचारो में रखा जा सकता है।

गाधी जी द्वारा बताये गये उपदेशों या व्रतों को विनोबा कृत श्लोक में गूंथा गया है जो गाधी जी के सम्पूर्ण नैतिक विचारो के स्वरूप को स्पष्ट करता है।

अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य असंग्रह, शरीर श्रमअस्वाद सर्वत्र अपवर्जन।
सर्व धर्मी समानत्व स्वदेशी स्पर्श भावना, ही एकादश सेवांवी नम्रत्व व्रत निश्चये।



गांधी जी के अनुसार अहिंसा का मूलभूत आधार यह है कि यह व्यक्तिगत लाभ के अलावा समस्त विश्व को लाभ पहुचाती है। गांधी जी के सत्य एव अहिंसा के सिद्धान्तो की वर्तमान युग मे सार्थकता को हम नीति दर्शन में रख सकते हैं। नीति से यहा पर अर्थ नैतिकता से है। नैतिकता का सम्बन्ध मानव जीवन से है एवं दर्शन का अर्थ गहन चिन्तन शीलता से हैं। इस प्रकार नीति दर्शन को हम आचरण का शास्त्र कहे तो गलत नही होगा। **Ethics is the study of Conduct** सत्य एव अहिंसा का सम्बन्ध भी विवेकशील प्राणी के वैयक्तिक जीवन से है।

गाधी के विचार मे नीतिशास्त्र या आचार दर्शन, जीवन की उसी प्रकार महत्वपूर्ण आवश्यकता है जिस प्रकार शरीर के लिये भोजन आवश्यक है। नैतिक आचरण श्रम पूर्वक कर्तव्य पालन करना है। इसे हम निष्काम कर्म भी कह सकते है। नीति एवं धर्म मे घनिष्ठ सम्बन्ध है। नैतिकता के लिये धर्म वैसे ही है जिस प्रकार से उस बीज के लिए पानी होता है जो मिट्टी मे बोया जाता है। जो लोग धर्म को नीति से भिन्न समझते है वह लोग धर्म के वास्तविक अर्थ को नही जानते है। भारतीय अर्थ में भी धर्म और अधर्म एवं अनीति में कोई अन्तर नही माना गया है।

सर्व प्रथम हम गाधी जी के सत्य के सिद्धान्त को लेते हैं। सत्य को गाधी जी ने साध्य **(Aim)** माना एव सत्याग्रह और अहिंसा को सत्य प्राप्ति का साधन **(Means)** स्वीकार किया। सर्वप्रथम सत्य का अर्थ स्पष्ट करना उचित होगा।

सामान्य रूप से गांधी जी का तात्पर्य था कि जब हम हा या नही कहे तो उसका अर्थ वही होना चाहिये। अन्य शब्दों मे हम वैसे प्रकट हों जैसे हैं। सत्य से अर्थ सहयोग या सामंजस्य से भी है। अर्थात हमारे विचार, शब्द और कार्य मे पूर्ण सामंजस्य होना चाहिए। असामजस्य का दूसरा नाम असत्य है। असत्य का मूल भय है और भय का अर्थ गोपनीयता हैं। गांधी के विचार मे सत्य खुलापन हैं। सत्य प्रतिक्षण परिवर्तित रूप मे प्रगट होता हैं। इस सत्य को पहचानना और अपने जीवन मे ढलना मनुष्य का कर्तव्य है। यग इण्डिया में उन्होंने लिखा था कि सत्य और अहिंसा मेरा ईश्वर है। जब मैं अहिंसा की खोज करता हू तो सत्य कहता है कि इसे मेरे द्वारा प्राप्त करों। पारमार्थिक

अर्थ में गांधी सत्य को सत् या ऋत (नैतिकता) या ईश्वर मानते थे ईश्वर का विरोध महान विद्वानो ने भी किया है। इसलिए वह ईश्वर को सत्य कहने की अपेक्षा सत्य को ईश्वर कहते थे। और इसी सत्य की प्राप्ति करना मानव जीवन का परम लक्ष्य है।

संस्कृत में सत्य का अर्थ सत्य अर्थात जो वस्तुत: है और सत्य वचन दोनो ही हैं गांधी के मत मे सत्य के प्रति आदर भाव हमारे विचार, वाणी और व्यवहार को सत्यनिष्ठ बनाता है।

गांधी जी का द्वितीय सिद्धांत अहिंसा का शाब्दिक अर्थ है किसी भी प्राणी की हिंसा न करना। उपनिषद बौद्ध जैन दर्शन तथा मनुस्मृति मे अहिंसा को इसी अर्थ मे प्रयुक्त किया गया है। गांधी जी के विचार मे हिंसा का सम्बन्ध मनसा: वाचा कर्मणा से है। अर्थात मन, वाणी एवं कर्म से भी किसी की हिंसा न करना, उसे दुख न पहुचाना।

अपने संकीर्ण अर्थ मे अहिंसा का अभिप्राय अधिकतर कार्य और दैहिक हिंसा न करने से रहता है। महात्मा गांधी ने अहिंसा का व्यापक अर्थ लिया। अहिंसा के व्यापक अर्थ मे मानवता के कल्याण के लिये विश्व प्रेम करूणा, सेवा और नि: स्वार्थ भाव को अपनाने की लोगो से प्रार्थना की। महात्मा गाधी ने **Young India, Aug. 11,1920** १६२० मे लिखा है कि— "अहिंसा हमारी जाति का नियम है जैसे हिंसा पशुओ का" (**Non Violence is the law of our Species as Violence is the law of Brutes).**

गाधी के मत मे मानव जाति का इतिहास इस बात का साक्षी है कि मनुष्य आध्यात्मिक विकास कर रहा है और वह हिंसा से अहिंसा की ओर निरन्तर अग्रसर हो रहा है क्योकि अहिंसा का आधार प्रेम है। सहानुभूति का व्यवहार है। अहिंसात्मक व्यक्ति के लिये राग, द्वेष, क्रोध, मोह, लोभ और घृणा आदि मन के विकार है, अधर्म है। जीवन रूपी कर्म क्षेत्र में मानव को हिंसा तथा असत्य के विरूद्ध निरन्तर सग्राम करना चाहिये।

गांधी जी के अहिंसा के सिद्धान्त पर प्रकाश डालते हुए एन.के. बोस ने लिखा है कि— "अहिंसा एक एकात्मक शक्ति है। प्रेम और धर्म इसकी आधार शिला है। पूर्ण सत्य और अहिंसा मे कोई भेद नही है। फिर समझने के लिये सत्य साध्य और अहिंसा को साधन मान लिया गया है प्रेम और अहिंसा भिन्न नहीं है प्रेम का शुद्ध

व्यापक रूप ...

# संस्कृत विभाग

# रामस्य आदर्शसाम्राज्यस्थापने सीतायास्सहयोगः

Dr. P. Jhamsi P. Kshmi B an (Summary)
Jilblemudi A.P.

प्रकृतिपुरुषयोस्संयोगः यथा लौकिकसृष्टौ अनिवार्यस्सन् सकलकार्यसाधक. तथा स्त्रीपुरुषयोस्संयोगः साह्निकजीवने सकलकार्यसाधकः। न हि ता विना सः, तेन विना सा वा सकलकार्यकरणकुशलौ भवतः। यज्ञादिष्वपि कर्मसु तयोस्सहाधिकारः एव विहितः, न स्वतन्त्रः। साह्निकजीवनेऽपि स्त्रियं विना पुरुषो न तथा सेत्स्यति। तस्य सार्वत्रिकजीवने सर्वविजयेषु च स्त्रीसहकारः नान्तरीयकः—इति सर्वानुभवसिद्धो विषय.।

प्रकृतपत्रे रामस्य आदर्शसाम्राज्यव्यवस्थापकत्वप्रतिष्ठायां सीतायास्सहयोगः महत्तरः इत्यशः सोदाहरणं प्रस्तूयते। यद्यपि भूमिमिमा मनुप्रभृतयः मान्याश्चक्रवर्तिनः वहवः पर्यपालयन्, तथापि आदर्शसाम्राज्यव्यवस्थापकत्वप्रतिष्ठा तु रामैकसाध्याऽभूत्। रामसमकाले "रामो रामो राम इति प्रजानामभवन् कथा." तेन जगदेव राममयमभूत्किल। अद्यापि स्वार्थैकपरायणेषु प्रकृतराजेषु सैव रामकथा पुनः पुनरावृत्ता भवति। एव भविष्यति कालेऽपि भवेत् इत्यत्रम कोपि संशयलेशः।

एवं प्रतिष्ठा सत्यधर्मपराक्रमस्य सकलजीवलोकरक्षकस्य रामस्य स्वतो व्यक्तित्वेन न लब्धा, किन्तु साम्राज्यव्यवस्थाकृते, केवल रजकवचनादरणाय प्राणेभ्योऽपि गरीयस्या सीताया. शाश्वतिकपरित्यागेन लब्धा। रामेण लोकराधनकृते निरपराध परित्यक्ता सीता नु प्रजाभिप्रायादरणाय शश्वत् राममेव न तत्याज, अपितु स्वप्राणमपि तत्याज। अत एवोक्तं लङ्कायां क्लिश्यन्त्याः सीतायाः प्रथमदर्शनसमये धीमता हनूमता—

> "दुष्करं कुरुते रामो हीनो यदनया विभुः।
> धारयत्यात्मनो देहं न दुःखेनावसीदति ॥" इति।

तत्रैव सीतां, राज्यं च तुलयन् हनुमान् पुनरेवमपि वदति—

> "राज्यं वा त्रिषु लोकेषु ? सीता वा जनकात्मजा ?
> त्रैलोक्यराज्यं सकलं सीताया नाप्नुयात्कलाम् ॥" इति।

'परिग्रहीतुः अपेक्षया दाता गरीयान्' — इति सार्वत्रिक सत्यम्। त्रैलोक्यसाम्राज्यव्यवस्थासंरक्षणार्थं स्वप्राणं तृण मन्यमाना सकलगुणाभिरामस्य रामस्य पत्नी. जनकात्मजां संस्तुवन् सम्मुग्धहृदयः सन्मार्गदर्शी सुदीर्घदर्शी महर्षिर्वाल्मीकि —

> "कृत्स्नं रामायणं काव्यं,
> सीतायाश्चरितं महत्"— इति व्याहरति।

## आदर्शसाम्राज्यस्थापने सीतायास्सहयोगः

वाल्मीकिरामायणमिदं न केवलं रामस्य चरितमात्रप्रतिपादकं, सुशीलायाः सीतायाः अपि सुचरितप्रचारकम् । अस्याः पातिव्रत्यम्, आदर्शमहिलात्वं, धर्ममर्मज्ञत्वं, नैककष्टसहिष्णुत्वं, सर्वविधसामर्थ्यवतीत्वेऽपि नित्यं पत्यधीनत्वं, पत्याज्ञाकारिणीत्वं, नित्यं परार्थजीवितत्वम्—इत्यादयो नैके लोकोत्तरगुणाः दृश्यन्ते । लोकोत्तरगुणवतीमेना ग्रन्थादौ प्रस्तुवन् कविरेवं वदति– "सर्वलक्षणसम्पन्ना नारीणामुत्तमा वधू."–इति । श्री रामायणस्य यथा रामचरित 'तत्परत्वं, एव रामायाः, सीतायाः चरितप्रतिपादन-तत्परत्वमप्यस्तीत्ययमशः "रामायाः अयनं"—रामायणं, रामश्चं रामा च रामौ, तयोरयनं रामायणं, रामायाः लक्ष्म्याः इद रामं, रामं च तदयनं च रामायणम्"–इत्यादि व्युत्पत्तिभिः अभिव्यज्यते । रामायणस्य प्रख्यातव्याख्याता श्रीगोविन्दराजः रामायणंस्य सीताचरितैकपरत्वमेवं अवबोधयति–"इदं च रामचरितप्रतिपादनमप्राधान्येन प्राधान्येन च सीताचरितमेव प्रतिपाद्यते इत्याह – 'कृत्स्नं सीतायाश्चरितम्'-इति । कृत्स्नं रामायणं सीताचरितपरम् । अतएवोक्तं श्रीगुणरत्नकोशे 'श्रीमद्रामायणमपि परं प्राणिति त्वच्चरित्रे'–इति । आभाणकश्च 'प्रातर्धूतप्रसङ्गेन मध्याह्ने स्त्रीप्रसङ्गत. । रात्रौ चोरप्रसङ्गेन कालो गच्छति धीमताम्"–इति । उपायपुरुषकारयोर्मध्ये उपायस्वरुप भारते दर्शितम् । पुरुषकारस्वरुपं श्रीमद्रामायणे इति रहस्यपदवी । अत एव कृपावान-विकत्यनः इत्याद्युक्तलक्षण धीरोदात्तरुपो रामः कुशलवाभ्यां रामायणं श्रुतवान् । रामायणस्य रामैकपरत्वे स्वेनैव सदसि श्रवण न सगच्छते, सीतापरत्वे तु सगच्छते विरहिणः कामिनीकथाचरितश्रवणस्य स्वाभाव्यात्" ? इति ।

एव शिरोमणिहीकायामपि "सीतायाश्चरित महत्"-इत्ययमशः एवं व्याख्यातः-सीतायाश्चरितं सीतासम्बन्धिचरितविशिष्टं, अत एवं महत् = सर्वश्रेष्ठतम्, अत एवं कृत्स्नं सम्पूर्णम्, एवञ्जातीयकादन्यत् सर्व न्यूनमित्यर्थः । तथा च सीताचरितवर्णन–तत्परत्वेन रामावर्णस्य चरमोत्कृष्टता सम्पादिता । वाल्मीकिरामायणस्य आत्मभूतो यः करुणो रसः वर्तते सः एतादालम्बनक एव वाल्मीकिः स्वेनानुभूतं रामचरितोत्कृष्टत्व वाच्यतया प्रतिपादयन् व्यङ्ग्यवैभवगम्यमस्याः उदारचरित भङ्ग्यन्तरेण प्रतिपादयति । अन्ततः परिशील्यमाने तु रामायणनामकरणस्वारस्यमेव प्रतिभाति यत्–'यथा सीतारामौ

अविभाज्यतया, सुख-दुःखयोः अद्वैत वर्तते, तद्वत् अनयोः रामयोः चरितमपि तयोरविभक्त अद्वैत बोधयत्, तच्चरितानुरूपं (अविभाज्यतया) विहितानुपूर्वि सत् तयोर्नित्यसहचरत्व बोधयत् तुल्यप्रधानतया उभयोर्महत्व भिन्नभिन्नदृक्कोणैः प्रदर्शयति" इति ।

सीतारामयोरन्योन्यं अपृग्भूतत्व कविः द्वयोस्सन्द र्भयोः स्वतः सीतारामाभ्यामेवं ज्ञापयति-सीता आत्मान प्रणयप्रार्थना कुर्वन्त रावणं तृणाय मन्यमाना स्वस्य रामतत्परत्व निवेदयन्ती-'अनन्या राघवेणाह भास्करेण प्रभा यथा' इत्येयं वदति। राम. प्रजाभिप्रायादरेण सीतां शीलशुद्धिप्रख्यापनाय समादिश्य तथा हुताशने प्रविशन्ती पश्यन् साक्षिमात्रतया वर्तमानः पश्चात् ख्यातिवशीलां तां प्रशंसन्-'अनन्या हि मया सीता भास्करेण प्रभा यथा इत्येवं इति । एवमन्यत्रापि त्रिजटा सीतायाः पातिव्रत्य प्रशंसन्ती - 'अनन्या राघवेरोषा भास्करेण प्रभा यथा-इत्येव वदति । उपमा कालिदासस्य' इति प्रसिद्धि गतस्य. कालिदासस्य गुरुभतोऽपं वाविदावरो महर्षि-वाल्मिकिः प्रभामास्क सैपम्यं तयोर्दाम्पत्यस्याभिवर्णयन् तद्दाम्पत्यफलं भास्करप्रभयोरेही-योगस्येव लोककल्याणलक्षणमभिव्यनक्ति, पुनरुक्त तद्विषये दोषतया न विगणयति ।

सुन्दरकाण्डेत्वस्याश्सौन्दर्य त्रिशिष्य कथ्यते,' येन काण्डस्यास्य सर्वाङ्गसौदर्य संप्राप्तम् । अत्र सीतायाः क्लेशसहिष्णुत्व, धर्मज्ञत्वं, पतिपरायणत्व, नीरत्वं चाभिव्यज्यन्ते ।

प्रकृतिपुरुषयोश्विस्त्रीपुंसोः सहयोग नित्य सत्य' सकलकार्यसाधकश्च इत्ययं विषय. सर्वानुभवसिद्ध । बहुभिर्भूपतिभिः परिपालिता भूमिः रामेणैव गजन्वती भूत्वा आदर्शसाम्राज्यव्यवस्था काञ्चन सुस्थिरा सकललोकसुखदां व्यवस्थां लब्धा । सर्वलोक हितकरः नित्यं सत्यधर्मपराक्रमः रामः तां सर्वलोकअनुकरणं व्यवस्थां सस्थापयामास । रामराज्ये जनाना रोगजरामरणादि भीति. नासीत् । सर्वो लोक. मुदित एव आसीत् । राममेवानुपश्यन्तो सर्वे सर्वधर्मपरायणा. दृश्यन्ते स्म । प्रजाश्च परस्परं नाभिहिंसन्ति, नाभिद्विषन्तिस्म, रामस्य आर्शसाम्राज्यव्यवस्थापकत्वप्रतिष्ठा सीतायास्सहयोगेनैलब्धा, विवाहकालात् आरभ्य सर्वदा सीता रामस्य छायेव सतधर्मचारिणी भूत्वा निषेवे, रामस्य कृते वेठितो वनवास सीताया नानुभवनीय, तथापि रामनान्तरीयकहृदया

सती सी ा क्लिष्टदशासु वनेषु तमतोषयत्, धीरगभीरहृदया सा "रामेण उच्यमानान् वनवासक्लेशान् न गणयति। रामस्य अरण्यगमनमार्गे कुश कण्टकान् मृदन्ती मार्ग" सुगमं करोति। तस्य अयोध्यपुरी संस्मरणक्लेशं परिहरति। रामं रमयन्तीं बालचन्द्राननां सीतां बाल्मीकि.—

"बालेव रमते सीता बालचन्द्रनिभानना।

रामा रामे ह्यदीनात्मा विजनेऽपि वने सती"–इत्येवं वर्णयति। एव तस्याः वनवासजीवितमभिवर्णितम्।

जारेण रावणेन हृता सीता स्वसौशील्यं संरक्षन्ती बहून् क्लेशान् अनुभवति। ताम् सर्वान् क्लेशान् रामैकहृदया सा अनुभवति। तस्या. राममयजीवितत्व वर्णयन् बाल्मीकिः—

नैषा पश्यति राक्षस्यो नेमान् पुष्पफलद्रुमान्।

एकस्थहृदया नूनं राममेवानुपश्यति॥" — इति वदति।

उपवासकृशां, दीना, सपङ्कां, अनलङ्कृतां, दु खसन्तप्तां, परिम्लानां, तपस्विनीं, अश्रुपूर्णमुखी, दीना प्रियं जनमदश्यन्ती पश्यन्ती राक्षसीगण, सुखार्हा दुःख सन्तप्ता ता सीता पूर्व चित्रादिना अज्ञातामपि हनुमान् विशिष्टैरुक्तलक्षणैः ज्ञातवान्। ता तथा पवित्रा सती आञ्जनेयः मनोमात्रगम्यां वाचामगोचरां वर्णयन्–

"आम्नायानामयोगेन विद्यां प्रशिथिलामिव।

संस्कारेण यथा हीनां वाचमर्थान्तरे गताम्॥

प्रभां नक्षत्रराजस्य कालमेघैरिवावृताम्" – इत्येव अनुपमां तां मनोमात्र-गम्यवस्तुभि तुलयति।

तस्याः भर्तृवाल्लभ्यमेव प्रस्तौति—

"इयं सा यत्कृते रामः चतुर्भिः परितप्यते।

कारुण्येनानृशंस्येन शोकेन मदनेन च।

स्त्रीप्रनष्टेति कारुण्यात् आश्रितेत्यानृशस्यत

पत्नी नष्टेति शोकेन प्रियेति मदनेन च॥" इति।

"प्रनष्टापि सती शास्य मनसो न प्रणश्यति" इति। अन्योन्यप्रियतमयोः तयोः प्रीतिरत्नेव दुर्लभमित्याकलय्य तयोरन्योन्यहृदयसंवादं वर्णयन् तयोः सामरस्यं सत्समितमेव वदति—

"अस्या देव्या मनस्तस्मिन् तस्य चास्यां प्रतिष्ठितम्।
तेनेयं स च धर्मात्मा मुहूर्तमपि जीवति॥" इति।

लोकाराधनतत्परः लोकाभिरामः श्रीरामः सीताकृते चतुःसमुद्रमुद्रितां मेदिनीं यदि परिवर्तयेत, तद्युक्तमेव मन्यमानो हनुमान्—

"यदि रामस्समुद्रान्तां मेदिनीं परिवर्तयेत्। ५-१५-४६

अस्याः कृते जगच्चापि युक्तमित्येव मे मतिः॥" इति जगतः विशालस्य जनकात्मजायाः तुल्यत्वं प्रबोध्य, अनन्तरं त्रैलोक्यराज्यादपि विशिष्टत्वमस्या एवं प्रतिपादयति—

"राज्यं वा त्रिषु लोकेषु सीता वा जनकात्मजा?
त्रैलोक्यराज्यं सकलं सीताया नाप्नुयात्कलाम्॥" इति (वा. रामायणं ५-१६-१४)

मान् सीतायाः आभिजात्यादि गुणांश्च—"धर्मशीलस्य महात्मनो मैथिलस्य जनकस्य दुहिता, क्षेत्रे मेदिनीं भित्वोत्थिता, विक्रान्तस्यार्यशीलस्य दशरथस्य स्नुषा, धर्मज्ञस्य कृतज्ञस्य आर्यस्य रामस्य पत्नी, राक्षसीवशमागता भर्तृस्नेह-पुरस्कृता पतिशुश्रूषणे रता वनेऽपि भवने इव यशं प्रीतिं भजते इत्येवं स्मृत्वा स्मृत्वा विलपति।

एतावता तस्याः केवलं कौटुम्बिकजीवने आदर्शत्वं उक्तम्, न तावता कोऽप्युपयोगो लोकस्य। तस्याः आदर्शमहिलात्व—आदर्शसाम्राज्ञीत्ववर्णनाय तु सोदाहरण प्रसङ्गः एवं दृश्यते—पिता "रामस्य सहधर्मचरी भव" श्रुत्वा धर्मिष्ठस्य रामस्य धर्मनिष्ठां स्थूणानिखननन्यायेन परीक्षितुमिच्छन्ती पुंसां कामजानि त्रीण्येव व्यसनानि—मिथ्यावाक्यं परदाराभिगमनं विना वैरं रौद्रता" इत्येव रूपाणि भवन्ति। भवानधुना तृतीयदोषेण समाविष्टो भवति। त्वं धनुः जहाहि, क्षत्रियाणां धनुः हुताशनस्य इन्धनानि च समीपस्थितं तेजः, एवं बलं भृशं इच्छ्यते। क्व च शस्त्रं? क्व च वनं? क्व च क्षात्रं तेजः।

क्व च तप: ? अत: जानीहि शस्त्रसेवनात ते बुद्धि: कलुषा जायते[1] - इत्येवं धर्ममुपदिशन्तीव रामस्य धर्मनिष्ठां जिज्ञासति । धर्मस्वरूपं विवेचयन्ती चैवमुपदिशति —

धर्मादर्थ: प्रभवते धर्मात्प्रभवते सुखम् ।
धर्मेण लभते सर्वं धर्मसारमिद जनात् ॥[2] इति ।

"प्राप्यते निपुणैर्धर्मो न सुखाल्लभ्यते सुखम् ।"[3] इति च । रामश्चास्या: विपुलतरेण धर्मोवख्यायेन तुष्ट: तदीय धर्मज्ञतां प्रस्तुवन् —"धर्मज्ञे । धर्मचारिणि: जनकात्मजे! कुलं, हितं व्यपदिशन्त्या: त्वया सदृशां वच: उक्तम्, ते रजहात, सौहार्दाच्च परितुष्टोऽस्मि, त्वं हि मे प्राणेभ्योऽपि गरीयसी"[4] इति तामभिनन्दति ।

दुर्बुद्धिना जारेण रावणेन प्रणयप्रार्थनां क्रियमाणा, रामपरायणा सा उपवासेन, ध्यानेन, शोकेन च, मदनेन च कृशा सा स्वेन शीलेन स्वयं रक्षिता वर्तते । यद्यपि सा स्वतपश्शक्त्या पतिव्रत्येन च तं रावणं भस्मसात्कर्तुं शक्ता तथापि रामाज्ञां विना किमपि कर्तुमनिच्छन्ती सा तदीयवाक्यानि श्रुत्वापि तूष्णीमास्ते स्वशक्तिं रावणाय विज्ञापयन्ती सा—

"असन्देशातु रामस्य नतपसश्वान्तुपालयात ।
न त्वं कर्मि दशग्रीव ! भस्म भस्मर्हितेजसा ॥" —इत्येवं वदति ।

रावणनियुक्ताभि: राक्षसोभि: सामदानभेदोपायै: वशङ्कयितुं प्रयतिता सा—

भिन्ना भिन्ना नमिता प्रतिज्ञा वा दीप्ता बाग्नौ प्रदीपिता ।
रावणं नोपतिष्ठेयं किं प्रलापेन वरिवरम् ॥"[5] – इत्युक्त्वा धैर्येण तास्समादधाति ।

सुन्दरकाण्डे रावणभटैर्हनुमल्लाङ्गूलनिसृष्टाग्निना निश्शेषं लङ्काया: दाहेऽपि नैषा दग्धा भवति । हनुमान् आदौ तां दग्धां मत्वा, पश्चात् युक्तिभि: तस्या अदाह्यत्वं एवं विभावयति—

"अथवा चारुसर्वाङ्गी रक्षिता स्वेन तेजसा ।
न नशिष्यति कल्याणी नाग्निरग्नौ प्रवर्तते ॥ इति

---

१. वा. रा. ३.१. ३ त: २६
२. वा. रा. ३ १-३०
३. वा. रा. ३.१-३१
४. वा. रा. ३.२०-२०,२२,२२
५. वा. रा. ६.३२

१. वा. रा. ५-२६.२२ २०
२. वा. रा. ५-५५.२३

किञ्चस्यास्सर्वात्मना अप्रदाहृत्य विशिष्य अग्नेर्दाहकत्वञ्चोद्दिश्य—

"तपसा सत्यवाक्येन अनन्यत्वाच्च भर्तरि ।
अपि सा निर्दहेदग्निं न तामग्निः प्रधक्ष्यति ॥" –इत्येवं समर्थयति ।

सीतायाः अदर्शमहिलात्वस्य वर्णनीयत्वेन कविरादौ तां "सर्वलक्षणसम्पन्ना नारीणामुत्तमा वधू "-इति प्रतिजानीते । सुन्दरकाण्डे सीतासौन्दर्यं पराकाष्ठभूते भुते हनुमानपि तस्याः स्थितिं वर्णयन् रामं प्रति—

"नियतस्समुदाचारः भक्तिश्चास्यास्तथा त्वयि ।
एवं मया महाभाग ! दृष्टा जनकनन्दिनी ॥
इत्रेण तपसा युक्ता त्वदाक्त्या पुरुषर्षभ. !"[1] –इत्येवं तस्याः

पत्यनन्यात्वं मुख्यतया वर्णयति । सा इयं सीता मम सुता सहधर्मचरी तव"–इति पित्राज्ञा यथोक्तमनुपालयति । रावणवधानन्तरं रामादेशानुसारं सालङ्कृता सीता स्नेहात्, प्रहर्षात्, सौम्यानना पतिदेवता पतिमुखं पश्यति । तदा रामः–अनन्या हि मया सीता भास्करेण प्रभा यथा"[2] इति, 'ता स्वतः स्वेन तेजसा रक्षितां'–इति, 'त्रिषु लोकेषु जनकात्मजा मैथिली शुद्धा'[3] इति जानयति केवलं प्रजाभिप्रायमाहृत्य—

"प्राप्तचारित्रसन्देहा मम प्रतिमुखे स्थिता ।
दीपो नेत्रातुरस्येव प्रतिकूलासि मे दृढम् ॥"
तद्गच्छ त्वाम्यनुज्ञाता यथेष्टं जनकात्मजे ।
एता दशदिशो भद्रे ! कार्यमस्ति न मे त्वया ॥
कः पुमान् हि कुले जातः स्त्रियं परगृहोषिताम् ।
तेजस्वी पुनरादद्यात् सुहृल्लेख्येन चेतसा ॥
रावणाङ्कपरिभ्रष्टां दृष्टां दुष्टेन चक्षुषा ॥
कथं त्वां पुनरादद्यां कुलं व्यपदिशन् महत् ॥

नास्ति मे त्वय्यभिष्वङ्ग. यथेष्टं गम्यतामितं."[4] इत्येवं तां परुषं वदति । सातु वस्तुनः शुद्धशीला, अत एव खिन्ना रामाभिप्रायमाहृत्य स्वयं नशीलशुद्धिं प्रकटयितु कृतनिश्चया 'हे महाभाग ! न तथास्मि, यथा त्व मामवगच्छसि पृथक्स्त्रीणा चरित्रेण जाति परिशङ्कसे, यदहं विवशा परगात्रसंस्पर्शं गतास्मि, तत्र मे कामकारो नास्ति, मदधीनं यदिद हृदयं तत् । त्वयि गतो त्वया प्रेषितः हनुमान् लङ्कस्था मामवलोकयत्खलु ।

१ वा. रा. ७.६ प्र. २७
२ वा. रा ६.२२१ २१
३. वा. रा. ६ २२२.२०
४. वा रा ६-२२२.२० त. २२

मम भक्ति श्रीमन्‍ सुवेदे पृष्ठत कृताम् हायुक्तया अग्निसाक्षिक स्वमीतत्त्वं प्रख्यापयति एव प्रख्यापितशीला सीता, वार्ताहरेण श्रुतात् लोकापवादवाक्यात् भीतेन रामेण पुनराश्रमे वने परित्यक्तु समादिष्टा भवति सा पूर्व कैकेय्याः वाक्यानुपालनाय वन गच्छन्त भर्तार अरण्यमानन्तु प्रार्थिता सती बहुधा वनवासक्लेश त्रिशङ्कित-मानसेन रामेण भृश निषिद्धसते निषिद्धाते। सा रामेण केवल लोकापवाद भीतेन परित्यज्यते। परित्यागपूर्वदिवसे सीता रामेण सह विहरन्ती स्वान्तर्वत्नीत्व पुरस्कृत्य वनवास सकृत्प्रार्थयति। अतस्तत्र सा लक्ष्मणेन रामानुशासनादून नीयमाना न किञ्चिदनुचिन्तयति। वने आत्मान त्यक्तो लक्ष्मणस्य अस्वस्थत्व दृष्ट्वा— किमिद भावगच्छामि ब्रूहि तत्त्वेन लक्ष्मण। पश्यामि त्वा न च स्वस्थ अविक्षम महीपते [1]— इति पृष्ट्वा, परित्यागकारण श्रुत्वा रामानुवर्तिनी सहचारिणी सा रामाय अकुप्यन्ती प्रजापालनविषये रामस्य जागृति प्रबोधयन्ति—

"यथा भ्रातृषु वर्तेथास्तथा पौरेषु नित्यदा।
परमोह्येष धर्मस्ते तस्मात्कीर्तिरनुत्तमा॥
यत्तु पौरजनो राजन् धर्मेण समवाप्नुयात्।
अहन्तु नानुशोचामि स्वशरीर नरर्षभ।
यथा अपवाद पौराणा तथैव रघुनन्दन।
पतिर्हि देवता नार्याः पतिर्बन्धुः पतिर्गुरुः॥
यच्च ते वचनीय स्यादपवादसमुत्थितम्।

मया हि तत्परिहर्तव्य त्व हि मे परमा गतिः॥" [2] — इत्येव धर्मिष्ठा जनकजा राजधर्म राम प्रत्युपदिशन्ती स्वशरीरक्लेश सुतरा न गणयित्वा सावेव रामस्य सहधर्मचारिणी भवति। यज्ञसविधाने राम कुशलवाभ्यां गीतां रत्नकथा रामायणाख्यां निशम्य कौतुहलपर महामुनीन् पार्थिवान् तच्छ्रवणाय समावेशयेति। तत्र शिष्याभ्यां समागत महर्षि मुखात् सीतोदन्त श्रुत्वा कुशीलवौ स्वपुत्राविति ऋषिणोक्तौ राम—

---

१ वा रा ३ २२१ ६ त २६
२ वा रा @ ४७ ७

पुरा सुरसन्निधौ वैदेह्या प्रत्यय कृत तत्र शपथ कृत तेन, वेश्म प्रवेशिता। लोकापवादो बलवान येन मैथिली सेय लोभयादब्रह्मन[1] अवापेत्यभिजानता परित्यक्ता प्रभा सीता सद्भावन् वन्तुमर्हति। इमौ तु जौ कुशीलवौ यमजातौ मे पुत्रौ जानामि शुद्धयां वयतो मध्ये मे तस्या रस्तु[1]—इति वाल्मीकि प्रत्युक्त्वा सीतायाश्शीलशुद्धि परीक्षते। तदा जानकी—

मनसा कर्मणा वाचा यथा राम समर्चते।
तथा मे माधवी देवी विवर दातुमर्हति[2]

इत्येव वादिनी भूतलादुत्थित विमानमधिरुह्य स्वमात्रा धरण्या परिगृहीता रसातल प्रयाति। एव वाल्मीकि रामायण सीता त्रि कृत्व प्रजाभिप्रायरक्षणीय। रामेण परीक्ष्यते। त्रिष्वपि सन्दर्भेषु सा राघव आद्रियमाणैव वर्तते। आदौ अग्नौ प्रविशन्ती आत्मन भर्तु अतिचारशङ्का निराचिकीर्षन्ती—

यथा मे हृदय नित्य नापसर्पति राघवात्।
तथा लोकस्य साक्षी मा सर्वत पातु पावक ॥
कर्मणा मनसा वाचा यथा नातिचराम्यहम्।

राघव सर्वधर्मज्ञ तथा मां पातु पावक ॥[3]—इत्येवमुक्त्वा राघवस्य प्रजाप्रीति वर्धयन्ती हुताशने प्रविशति। एव लोकापवादात् वने विजने लक्ष्मणेन परित्यज्यमाना सा स्वराज्ञी धर्मोचित धर्मनिष्ठ राम प्रति—यथा भ्रातृषु वर्तेथास्तथा पौरेषु नित्यदा इत्येव राजधर्ममुपदिशन्ती राघवे गौरव प्रदर्शयति। दाव रसातल प्रविशन्ती सा न राघव परुष किञ्चिद्वक्ति किन्तु तस्मिन् रामे प्रवृद्ध प्रेमातिशय प्रदर्शयन्ती—

'मनसा कर्मणा वाचा यथा राम समर्चये।
तथा मे माधवी देवी विवर दातुमर्हति ॥ —इत्येव कथयन्ती प्रजाभि

प्राय रात्यन्तमाद्रियते रामाय तनमनस्समर्पणपुरस्सर आत्माऽर्पण कुर्वन्ती स्वधर्म सर्वात्मनानुसरति। रावणवधानन्तर प्रथमत अग्निपरीक्षासमये एव सा किञ्चिदिव निष्ठुरतया—न तथास्मि महाबाहो[1] यथा त्वमवगच्छसि—इत्येव भाषते ततश्च रामधर्ममर्मज्ञा हि कृत्त्व विजन वन, तथा रसातल प्रविशन्ती न सा निष्ठुर भाषते, प्रत्युत राजधर्म समुपदिशन्ती स्वधर्म सदानुपालयन्ती वर्तते।

एव सा रामपत्नी जानकी नारीणामुत्तमा सघ भूत्वा सीतायाश्चरित महत् इति वाल्मीकिवचनस्य यथार्थता स्वचारित्र्येण प्रकटयति।

---

१. वा. रा. @ ४१-२३ त-२@
२ वा रा @ १@ ३ त ६
३ वा रा @ २२१ २४२६

# संस्कृतवाङ्मयस्य विकासः परिरक्षणञ्च

डा० श्री वासुदेव शास्त्री

महतः प्रमोदस्यायमवसरः यत् भारतस्य संमानिते च हरिद्वारस्य अस्मिन् गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालये अखिल भारतीय प्राच्यविद्या सम्मेलनस्यास्मिन्नवसरे समवेता. वयमद्य स्वदेशस्य स्व भाषायाः संस्कृतेश्च सम्बन्धे परस्पर विचार सम्मेलनं कुर्तुं प्रवृत्ताः। अद्यतनेऽस्मिन् समायोजने प्राचीनतमस्य भारतस्य राष्ट्रस्य मूल भूतां भाषा संस्कृतिञ्च संरक्षितुं व्यहारपदेषु भाव प्रवर्तयितुं कश्चन तादृशो मार्गो. अन्वेषणीयो वर्तते यो हि व्यवहारिक; समयानुकूलश्च: भवेत्। यथोन्तरं भौतकविज्ञानस्य विकासेन प्रभावेण च भारतीया जीवन पद्धेति सर्वथा विपर्यस्ता श्लथस्वभावा च समपद्यत।

अतः अस्याश्चिकित्सा पद्धति आधुनिकैः प्रकारैः सह संवादमादधाना एव अस्यानुपकरोति–ननु स्वतन्त्रता विपरीतस्वभावा वा। इत्यभूते व्यतिकरे भारतस्य गौरव वाहिन्याः संस्कृत भाषायाः प्रचार प्रसारोपायमवलम्ब्य किमपि नूतन विधान अवश्यकर्तव्यतया शिरस्या पतितम् इतिमत्वा प्रमादम पहाय युद्धाय कृतानिश्चय. इति भगवद्गीतोपदेश स्मृत्वा सामयिकः जनतन्त्रानुकूलः समन्वयस्थापकस्य कश्चन प्रकार विशेष: एवं हितावहो भावितुमर्हते।

संस्कृत भाषा भारतराष्ट्रस्य भारतीया संस्कृतेश्च प्राणभूता इति सर्वेपि स्वीकुर्वन्ति किन्तु साम्प्रत संस्कृतस्य प्रतिपद वर्धमानो ह्रासः दृष्टिपथमायाति तेन सर्वेऽपि संस्कृत सेविनः चिन्तातुरा. खिन्नचिन्ताश्च दृश्यन्ते परं न केवल या निष्क्रियक्रियया कश्चन लाभः संभवति, तदर्थं तु प्रतीकार एव चिन्तनीयो भवति, कि बहुना, संस्कृतस्य ह्रासे भारतराष्ट्रस्य सर्वाविद्या सर्वदेशीया च मूलप्रतिरिति निष्कर्षः प्रतिफलित। इति संस्कृतस्य महत्वाख्यानेन केवलेन संस्कृतस्य समस्या न कथञ्चिदपि समाधातुं शक्यते तदेतदास्ता नाम।

संस्कृत भाषामुद्दिश्य पुरातनं राष्ट्र व्यापकं संस्कृतस्य महत्वं वर्चस्वञ्च अस्ति। वर्तमानेऽस्मिन् काले संस्कृत भाषायाः तत् प्रतिबिम्ब भूतायाश्च संस्कृतेश्नुदिनं सञ्जायमानो ह्रासः समग्रस्यापि राष्ट्रस्य कृते गंभीरायाश्चिन्तायाः विषयः यतोहि भारतस्य सर्वस्व निर्विरूपेण अस्यामेव सुरक्षितं वर्तते "यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्।"

इत्याभाणकेनापि एतस्याः व्यापकत्व राष्ट्रस्य आत्मनः सूक्ष्मां स्थूलां आन्तरिकं बाह्यं वा अनुभूतिः कर्तुं शक्या स्पष्टतया निर्दिष्टम् ।

अतोऽत्र संस्कृत भाषायाः विषये प्रधान भूताः विचार बिन्दवो विमृष्टाः पर्यालोचिताश्च सन्ति, तानेव प्रधानतया ऽवलम्ब्य संक्षिप्ता स्वारस्य बहुलां विचार सरणिं पुरस्कृत्य किंचिद् वच्मि ।

संस्कृत भाषायाः समृद्धि गौरवं दक्षिणोत्तर प्रान्तेषु व्यापकं संस्कृतिमूलकं परस्पर स्नेहबन्धन ऐकात्म्यभावश्च समानरूपेण अनुभूयते । या हिन्दी भाषा संविधाने देशस्य राष्ट्र भाषात्वेन प्रतिष्ठापिता तत् आरभ्य राजनीति क्षेत्रे विद्वेषकरः राष्ट्र विघटन करश्च कश्चन दूषित. विचार प्रवाह. प्रादुर्भूत. । यत इत. पूर्वं वैदेशिके शासने आग्लभाषैव प्रशासनतन्त्रे साम्राज्ञी भावमापन्ना तत्र व्याप्त प्रसरा आभिजात्यवर्ग आत्मसात कुर्वती पदप्रतिष्ठार्थं अभिलषिता अर्थला भाय च प्रभवन्ति सर्वेषामेव आकर्षणस्थलीव समजायत । आग्ल भाषायाः प्राधान्ये च चतुर्दिक्षु च व्यापृते सति प्रान्तीयभाषयैव सहज भावेन समपह्यते । एतश्च सर्वथा स्वभाविकमेव भवति । किन्तु आग्लाद् बहिः समागताना शासकपदमधिष्ठितास्तेषां भाषानुरागः प्रबलतमोऽभवत् । अत्रत्यया: प्रादेशिकभाषाया. तन्मूल भूताया. विविधताया विधानमकरोत् एतन्नैव दृष्टयामपेक्षते—अपितु प्रत्यह सर्व रस्माभि प्रत्यक्षी क्रियते अनुभूयते च ।

इतस्ततो अत्र । नि. क्षिप्यते दृष्टिः तत्र च महाकवे भर्तृभूतेरुक्त्यनुसारं "विपर्यस्तो जीव लोकः ।" इति सत्यापयत् सर्वमधरात्तर अन्यादृशामेव संवृत्तम् तत्र चेद् कारण मृग्यते तर्हि आंग्ल भाषैव कारणम् । यस्याः आत्यान्ते केन प्रभावमहिम्ना वय आत्मानं विस्मृत्य पथभ्रष्टाः दिशाहीनाश्च सजाताः । आचरेण व्यवहारेण वेषभूषया इंगितेन चेष्टितेन च सर्वथा वयम् भारतीयता मापन्ना-इति निर्मत्सरेण अन्तः करेण परेषां संस्कृति संसर्गेण स्व संस्कृतेः विस्मरणेन तत्र च अवज्ञा भावेन कारणान्तरेण वा यथारुचितेन कल्पनीयं भवेत्, किन्तु वस्तुस्थितिस्तु नैव प्रत्या ख्यातुं शक्या । अत समासतो विच र्यंत, सम ग्रस्य राष्ट्रस्य एक सूत्रात्मां ऐकात्म भावना च सम्पादयितुं संस्कृतं विहाय नान्या कापि भाषा दक्षिणोत्तरयोरभिन्नतां राष्ट्रैश्च भावनां च संवर्धयितुं समर्था । अत यदि राष्ट्रस्य ऐकात्म्यम भीष्टं तदा संस्कृतमेव एतद् सौहार्दं बन्धुत्व भावना च प्ररोहयितुं सक्षमम्-

नान्या कापि भाषा । परं यादृशी राष्ट्र निर्माण कल्पना स्वातन्त्र्योत्तर काले महात्मगांधि-प्रभृतीनां राष्ट्र कर्म धाराणाम भिलषिता आसीत् सा अमनोतेषु वर्षेषु नास्मा भिरुपलब्धा, किंतु सांप्रत शासन तन्त्रस्य परिवर्तनेन तत्र च अनुभवितो राष्ट्रकर्णधाराणां नेतृत्वेन भारतस्य अभ्युदयावह चिरकांक्षितश्च एतद्देशप्रशासनिक विकास समाजस्य परिष्कार आर्थिकस्य दैन्यस्य च निरोधकरण च यदि समुचितेन देशोत्थानानुकूलेन च यथा सम्भवत् तदा सर्वमेव पथ्यं हितकरं च स्यात् एतेन निर्विवादमेतद् यत् संस्कृत–साहित्ये यन्निहित नात्मतत्त्व जं तत् सर्व मानवमात्रस्य अभ्युदयकर उत्कर्षाधायक च नात्र कथचिदपि सन्देहस्यावकाश । तथा मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्य देवो भव, इत्येव विधाया मानव संस्कृतेरुपदेशश्च संस्कृतादन्यत्र क्व दृष्ट चरम् । वस्तुत इद आत्मनो गुण गौरवेण विश्व भाषात्वेन समान नामर्हति । यतो हि गुणा प्रियत्वेऽधिशता न सम्भव । इति कवेरुक्ति सत्यमेव विवृणोति । तस्मात् संस्कृत यदि भारतस्य राष्ट्र–भाषा भवेत् तदा सर्वविधो विरोध सामाजिक वैषम्य अन्यश्च या बाधा सन्ति सभवन्ति वा तानि सर्वाण्येव स्वतो निरस्तानि भवेयु । किंतुमद् विचारेण नाय समय उपयुक्त प्रतिभाति । यतो राष्ट्र मानस आर्थिक विपन्नताकारणेन सामाजिकेन च दुरवस्थाकारणेन सर्वत आन्दोलित उद्वेलितं च परीक्ष्यते-इति यावत् समाजगत अर्थसम्बद्ध, नैतिक कर्ममार्गानुगत च सामञ्जस्य नोत्पद्यते तावदस्य प्रयोगस्य सफलता सदिग्धैव प्रतिभाति ।

अपरञ्चेद विचारणामर्हति यत् सविधाने हिन्दी भाषा राष्ट्रभाषारूपेण सर्वसमस्या उच्चैरुद्घोष पारितोऽपि प्रस्तावे स केवलमद्यापि एकदेशीयो वाचनिक इव प्रतीय मान प्रचलति, ननु सार्वदेशिकी मान्यताम् । इति यद् वाचा प्रतिज्ञात तत् कर्मणा न निर्व्यूढम् । इत्तिका प्रगति स्वीक्रियते राष्ट्र भाषायां ? ततश्चायं प्रश्न समायातीति समस्या क्रियाकालार्थं यथास्थितस्तिष्ठतु तावत्–यदि हिन्द्यपि राष्ट्र भाषात्वेन व्यावहारिकपद प्राप्तवान् तदा अस्माक गन्तव्यमार्ग सुगमो निष्कण्टकश्च स्यात् ।

किन्त्वयमपि पक्षो विचारणीय यत् संस्कृतस्य राष्ट्र भाषत्व तदा एव व्यवहारिकं स्यात् यदेय सारल्यमानीयेत । अस्याश्च सरली करण केचन प्रकाश शब्दसभवा लोकानुकूलाश्च सभवन्ति । पर सरलीकरणे कापि लक्ष्मणरेखा निर्देष्टु ना याति ।

अत्र विषये प्रस्तुत: लकाराणां संकोच- सीमित भावेन च तेषां व्यवहारे कार्यनिष्पादनं न नूनं सुकरं सम्भाव्यते-एवमेव अन्य दप्येवं जानीमः सारल्यं तथा क्लिष्ट सन्धीनां दोघकरां समस्त पदानां तथा णिजन्तादि साधनेन निष्पन्नानां धातुप्रयोगाणां च संततेन सस्कृतस्य काठिन्यं सर्वसाधारणो प्रयोगदृष्ट्या काठिन्यं आवहन्ति-एवमेव कृदन्त-तद्धितादि प्रयोगा अपि-विविधाकाराणां धारयन्त: असौविध्यं किंचिद् जनयन्त्येव तथा च सस्कृतस्य सरली करण व्यवहार-दृष्ट्या स्वल्पमात्रमेव संभाव नाम शिरोर्हिति-अथापि निष्कर्ष रूपेण यदि व्याकरण-सवधिनी-दुरुहा प्रक्रिया क्वाचित् प्रयोगमर्यादया क्वचिच्च केषाञ्चन प्रयोगाणां परवर्तनेन कमपि मानदण्डं निश्चित्य सरलतां नेतुं शक्यत एव। यदि समीक्ष्यते किंतु वस्तुस्थितिः तदा अत्र पक्षान्तरमपि न निरोद्धुं शक्यते महान् हि शब्दस्य प्रयोग विषय:। स च सर्वोऽपि शास्त्रेषु समादृतो वर्तते-तत्र स्वेच्छाया चारां नैव कर्तुं शक्यये यत: शास्त्रीयं तत्वं तु समग्ररूपेणैव तदाएव स्फुटी भविस्यति सदा तद् आमूल चूलं अध्ययन विषयीभूतं भवेत् अत: व्यवहार भाषारूपेण साहित्य भाषा रूपेणैव वा स्याम् सस्कृतवाच: विभाजनं पार्थक्यं च आवश्यक प्रति भाति अतो अत्र विषये विचारकै कोपि मध्यमो मार्ग: अगत्या गवेषणीयो भवति।

अन्ये च ये प्रश्ना: संस्कृत सम्बन्धे उद्भवन्ति तेषां निराकरणं नैव कठिनं मन्ये। संस्कृत भाषा तावत् सर्वथा वैज्ञानिकी समृद्धा चिराय च व्यवहार भूमि-माधता सुपरिक्षिता च वर्तते-इति तस्यां विज्ञान-विषयाणां समावेशो विवेचनश्च सर्वथा सम्भवत्येव तत्र उदार भावैरस्मा भिर्भ वितव्यम्। नवन वोन्येषाणां वैज्ञानिकानां पारिभाषिक शब्दानां तथा देशभाषाया व्यवहार प्रसिद्धानां च शब्दा नामदानं तेषां, मूलरूपेणैव कर्त्तव्यम्। नो चेत् स्वर्ग तेन डा० रघुवीर महोदयेन यादृशी नवीन शब्दांग्राहिणी शब्दावली कोषरूपेण निबद्ध-सा मघवामूल-विडौजा टीकेति वत् उपाहासाय शिरस्तोदाय च सर्वेषां भवति-इति तत्र दुराग्रहो नैव समुचित: यत: समन्वयमन्तरा संस्कृतस्य सरलीकरणं दुरापास्त भविष्यति।

अथ च अस्माभि: विशेषतश्च सस्कृत क्षेत्रे कार्यरतै: आत्मलोचनं कुर्वद्भिः संस्कृतस्य लोकप्रियत्वं साधयितुं प्रभविस्य य:। अत: एतद् विषयको विचार: अपि व्यापकदृष्ट्वा कर्त्तव्य: येन बहुम सभाविता: बाधा: दूरी कृता: स्यु अवशिष्यते च

प्राक्तनस्य विद्या प्रौढे: संरक्षणं तन्तु प्राक्तनैव शिक्षा मार्गेण सम्भवतियत: प्रौढि संम्पादनार्थं गुरुशिष्यभावस्य संवर्धनं यावन्न क्रियेमन वत् प्रौढि. कथ कुतश्चाधिगम्यते? इत्येष पक्ष: कालप्रवाहेण दुर्बल: सन् यथा कथञ्चिन् विश्लतां प्राप्तांऽपि जीवत्येव इति सामान्य प्रचारे व्यवहारत: सफले प्रौढिरिव कालक्रमेण परिपोषिता भविष्यति इति नात्र सन्देहो विषेय:। प्रचार एव परिष्कारस्य प्रोढेश्च जनक: इति साम्प्रतिके परिवेशे नायमपि-कश्चिन्ता विषय:। एकैव अत्र सन्दर्भे महती बाधा याहि तावत् अयं सम्बन्धिनी सा तावत् संस्कृत-शालाषु छात्राणाम भाव:, सस्कृतमध्ययनाद रुचि: जीविका लाभे बहुविधानि संकटानि दूरीकर्न्तुं शक्यानि। अत: समान पदेषु समान वेतनं प्रतिष्ठा लाभा देरञ्च यथायथं यदि सर्वकार: स्वीकरोति तदा बहूनां प्रश्नानां समाधानं स्वत: स्फूर्त: संजायते समस्याश्च स्वत: पराजिता: भवेयु:। अतो निस्कर्षरुपेण अयमत्र संक्षेप: यत् संस्कृतज्ञै: सर्वत: प्रयत्नं संघटितै भवितव्यम्–अन्योन्यं अन्योन्यस्य सहाकारेण विचार–विमर्शेण समये-समये संस्कृत सम्मेलनानां विचार-गोष्ठीनामायोजनेन सह एषु विषयेषु सामूहिकं चिन्तनं विधाय समाजात्य राष्ट्रस्य आत्मनश्च हिताय शिवाय च संघशक्ता कार्य क्षेत्रे अवतीर्य संस्कृत भाषाया: न केवलं भारतभागे प्रत्युत विश्वस्मिन्नपि संस्कृतस्य जय घोष: संचारतामित्येदर्थं प्रमादमालस्यं च विहाय कर्तव्योन्मुखै भवित्तव्यमित्ताम्।

"जयतु संस्कृतम् जयतु भारतम्"

★

# शाकुन्तलम् में आशीर्वचन

डा० प्रमोद चन्द्र झा

रीडर, अध्यक्ष संस्कृत-प्राकृत विभाग

जे० जे० कॉलेज, आरा, बिहार

विश्व-साहित्य के समग्र रूपकों में महाकवि कालिदास प्रणीत 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम्' सर्वश्रेष्ठ है, जो नाटकीयता की दृष्टि से भरपूर होते हुए समग्र नाटकों को आदर्श नाटकीयता का समुचित उपदेश प्रदान करता है। निश्चय ही स्वर्गिक या भौतिक आनन्द का स्थल है शाकुन्तलम् जिसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है जर्मन विद्वान् गेटे ने—

एकीभूतमभूतपूर्वमथवा स्वर्लोकभूलोकयोः।
ऐश्वर्यं यदि वाञ्छसि प्रिय सखे ! शाकुन्तलं सेव्यताम्॥

शाकुन्तल वह नाटक है जिसमें मानवी पात्रों का आकलन तो है ही, साथ ही देवी पात्रों का भी यहां सुशोभन सन्निवेश हुआ है। यद्यपि नारी सहज सौन्दर्य तपोवन का अभिराम स्वरुप प्रकृतिस्थ पशु-पक्षियों का मनोरम चित्रण यहां वर्णित हुआ है, फिर भी विशेषत: विवेचनीय वस्तुओं का भी यहां पर्याप्त साधन है जिसकी सम्पूर्णता का प्रतिपादन सामान्य बुद्धि से सर्वथा परे है। यों तो शाकुन्तलम् की प्रशंसा में आलोचकों ने सूक्तियों का जाल सा बिछा दिया है तथा एक स्वर से यह मान लिया है कि 'कालिदासस्य सर्वस्वमभिज्ञानशाकुन्तलम्'।

शाकुन्तल में वर्ण-व्यवस्था, आश्रम-व्यवस्था, वैवाहिक-व्यवस्था, तपोवन स्वरुप, स्त्रियों की स्थिति, संतान की उपयोगिता, अतिथि का महत्व, धार्मिक दशा, यज्ञों की परम्परा, पुनर्जन्म, तीर्थ, पुरुषार्थ चतुष्टय, राजव्यवस्था, अन्ध विश्वास, दण्डव्यवस्था, राष्ट्रमहत्व, शिक्षा एवं व्यापार-व्यवस्था का ऐकत्र अध्ययन किया जा सकता है। वहीं इन सारी व्यवस्थाओं का आशीर्वादात्मक स्वरुप किसी न किसी रुप में प्रदर्शित हुआ है। निश्चय ही भारतीय परम्परा में छोटे अपने बड़ों से आशीर्वाद प्राप्त किया करते हैं। आशीर्वाद मानसिक, वाचिक एवं सांकल्पिक होता है। निश्चय ही आशीर्वाद देने वाला आशीर्वाद के माध्यम से अपनी शक्ति, सामर्थ्य, वैदुष्य एवं तेज का स्वल्पांश प्रदान कर देता है। आशीर्वाद देने या लेने के लिए उम्र से बड़ा

या छोटा होना ही निश्चित नहीं अपितु एक छोटी आयु वाला तपस्वी, साधु, ब्रह्मचारी या ब्राह्मण भी अपने से बड़े उम्र वाले लोगों को भी आशीर्वाद प्रदान किया करते हैं। वैयक्तिक आशीर्वाद के साथ-साथ सामूहिक आशीर्वाद की परम्परा भी सर्वथा प्राचीन है। आब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतांम् आदि वैदिक सूक्त भी यह बतलाते हैं कि आशीर्वाद सर्वथा वेदोपयुक्त है।

आशीर्वाद का प्रयोग विविध अर्थों में किया जाता है जैसे आशीः, प्रसाद, अनुग्रह, कृपा, व्रत, संकल्प, संदेश आदि के रूप में प्रयुक्त होते हैं। आशीर्वाद का प्रसार अर्थ में प्रयोग तथा आशीर्वाद के लिए सर्वथा उपयुक्त वर्ण-विशेष का उल्लेख हम मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम की निम्नोक्ति में देखते हैं कि—

विप्रप्रसादात् धरणीधरोऽहं विप्रप्रसादात् कमलावरोऽहम्।
विप्रप्रसादादजिताजितोऽहं विप्रप्रसादात् मम नाम राम्॥

विवेच्य शाकुन्तलम् में आशीर्वचन वस्तुतः इसकी कथावस्तु को एकसूत्रता में सुनिबद्ध किये हुये है जिसे हम नाटक के पूर्वाह्न मध्याह्न तथा अपराह्न में परिव्याप्त पाते हैं। आशीर्वचन का ही प्रभावपूर्ण वैशिष्ट्य है जिसके कारण अभिशप्ता शकुन्तला का अपने पति दुष्यन्त से पुनर्मिलन सम्भव हो पाया है। निश्चय ही आशीर्वचन नाटक को गतिशील बनाने में अपूर्व सहयोग प्रदान करता है।

नाटक के सर्वप्रथम श्लोक जिसे मङ्गलश्लोक कहा जाता है— में ही आशीर्वचन का प्रथम उदाहरण परिलक्षित होता है जहां कविकुलगुरु अपने शाकुन्तल नाटक के दर्शक सामाजिकों को आशीर्वाद देते हुए कहते हैं कि जल आदि आठ संख्या वाली सर्वथा पुरोदृश्यमान् मूर्तियों से युक्त परमेश्वर शङ्कर आप लोगों की रक्षा करें—

प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः॥

दुष्यन्त-सारथि मृग एवं राजा को देखते हुए कहता है कि—आयुष्मन्।

कृष्णसारे ददच्चक्षुस्त्वयि चाधिज्यकार्मुके।
मृगानुसारिणं साक्षात्पश्यामीव पिनाकिनम्॥

यहां भरतमुनि के वचनानुसार 'आयुष्मन्निति वाच्यस्तु रथी सूतेन सर्वदा'— सर्वथा उपयुक्त प्रतीत होता है। दुष्यन्त में पिनाकी शङ्कर का अवलोकन वस्तुतः सारथी के आशीर्वचन का ही प्रतिरुप है। गहन कानन की ओर आखेट के लिए निकले हुए राजर्षि दुष्यन्त की दृष्टि मे जैसे ही कृष्णसार मृग पड़ता है तथा अपने प्राणहन्ता को देखकर कृष्णसार अथक अनवरत भागते हुए तपोवन की ओर निकल आता है एव आश्रम-मृग को पहचानकर वैखानस हाथ उठाकर राजा से कहते हैं कि राजन्! आश्रम मृगोऽय न हन्तव्यो न हन्तव्यः, और अपने बाण को वापस लेते हुए राजा को देखकर वैखानस उसे आशीर्वाद देते हुए कहते है कि—

जन्म यस्य पुरोर्वंशे युक्त रुपमिद तव।
पुत्रमेवं गुणोपेतं चक्रवर्तिनमाप्नुहि॥

यहां एक मृग की प्राणरक्षा के लिए चक्रवर्ती पुत्र—प्राप्ति रूप अमोघ आशीर्वाद देना दुष्यन्त के लिए महान् वरदान के रुप मे सिद्ध हुआ है तथा मुनियों की पशु प्रेम भी इससे सूचित होता है।

यदुत्तिष्ठति वर्णेभ्यो नृपाणां क्षयि तद् धनम्।
तपः षड्भागमक्षय्यं ददत्यारण्यकाहिनः॥

यहां राजा का यह कहना कि चतुर्वर्णों से प्राप्त धन सर्वथा नश्वर होते है तथा तपस्वीजन अपनी तपस्या का अनश्वर छठा भाग हमे प्रदान करते है वस्तुतः आरण्यकों से दिया जाने वाला तपोरुप धन का माध्यम आशीर्वचन ही हैं। राजा को याज्ञिक सुरक्षा का भार प्रदान करने के लिए तथा दो-तीन रात आश्रम मे ठहरने के लिए निमन्त्रित करते हुए ऋषियों के द्वारा यह कहा जाना कि—विजयस्व राजन्!—आशीर्वचन का ही प्रतीक है तथा राजा के द्वारा इस निमन्त्रण को स्वीकार कर लेने पर उसके महान् यश की गाथा का गान, दोनो ऋषि आशीर्वादात्मक शैली में करते हुए कहते है कि—

अनुकारिणि पूर्वेषां युक्तरुपमिदं त्वयि।
आपन्नाभयसत्त्रेषु दीक्षिता खलु पौरवाः॥

अपनी माता के सन्देश मे भी दुष्यन्त को आशीर्वादात्मक फल प्राप्त होता है, जैसा कि महाकवि की इन पक्तियों मे परिलक्षित हुआ है— 'आगामिनि चतुर्थदिवसे प्रवृत्तपारणो में उपवासो भविष्यति, तत्र दीर्घायुषावश्य सम्भावनीयेति ।"

अनुसूया के द्वारा दुष्यन्त को यह कहे जाने पर कि राजन् ! राजाओं को बहुत सी प्रियतमाएं हुआ करती है अतः आप वह व्यवहार करें कि हमारी सखी (शकुन्तला) के लिए बन्धुजन शोक न करे । यहा शकुन्तला को अपनी दो प्रतिष्ठाओं मे एक मानना दुष्यन्त का शकुन्तला विषयक आशीर्वचन ही है—

परिग्रह बहुत्वेऽपि द्वे प्रतिष्ठे कुलस्य मे ।
समुद्ररसना चोर्वी सखी च युवयोरियम् ॥

वियोगिनी शकुन्तला दुर्वासा के तारस्वर 'अयमहं भो.' को नही सुन पाती तथा क्रुद्ध दुर्वासा उसे शाप देते है कि जिसके स्मरण मे लीन होती हुई तुम मुझ महर्षि के आगमन को नहीं जान पा रही हो वह तुम्हे निश्चयेन भूल जायेगा । प्रियबदा ऋषि को प्रसन्न करती हुई कहती हैं कि 'भगवान् ! प्रथम इति प्रेक्ष्या विज्ञात तपः प्रभावस्य दुहितृजनस्य भगवते कोऽपराधो मर्षयितव्य इति' और उसकी इस क्षमा याचना पर प्रसन्न होकर ऋषि का यह कहना कि 'ततो मे वचनमन्यथा भवितुं नार्हति किन्तु अभिज्ञामाभरणदर्शनेन शापो निवर्तिष्यत इति' ऋषि का यह अनुग्रह भी आशीर्वचनात्मक प्रतीत होता है । महर्षि कण्व को शरीर रहित छन्दोमयी वाणी के द्वारा शकुन्तला-विषयक ज्ञान कराना भी आशीर्वादात्मक उक्ति ही मानी जायेगी—

अवेहि तनया ब्रह्मन् अग्निगर्भान् शमीमिव ।

शकुन्तला आज पतिगृह जायेगी यह जानकर तपस्विनियां उसे आशीर्वाद देती हुई कहती हैं—

प्रथमा—जाते ! भर्तुर्बहुमान सूचकं महादेवी शब्दं लभस्व' ।
द्वितीया—वत्से ! वीर प्रसविनी भव' ।
तृतीया—'वत्से ! भर्तुर्बहुमता भव' ।

वन देवताओं ने भी शकुन्तला की विदाई जानकर आशीर्वाद के रुप मे अनेक वस्तुओं को प्रदान किया। किसी ने मङ्गल कार्य के योग्य रेश्मी वस्त्र, किसी ने लाक्षारस, किसी ने आभूषण प्रदान किये। आशीर्वचन का सर्वोत्तम स्वरुप महर्षि काश्यप के निम्न शब्दों मे प्राप्त होते हैं जहा वह उसे चक्रवर्ती पुत्र को उत्पन्न करने का आशीर्वाद देते हैं—

ययातेरिव शर्मिष्ठा भर्तुर्बहुमता भव।
सुतं त्वमपि सम्राजं सेव पुरुमवाप्नुहि॥

शकुन्तला को विदारुप आशीर्वाद के सभी वृक्ष कोकिलरव के माध्यम से देते है तथा आकाशवाणी के माध्यम से उसकी विदाई मङ्गलमय हो इसकी कामना भी आशीर्वचन का ही प्रतीक है —

भूयात् कुशेशयरजो मृदुरेणुरस्याः
शान्तानुकूलपवनश्च शिवश्च पन्थाः॥

आशीर्वचन का सकल्पात्मक रुप काश्यप की निम्नोक्ति में प्राप्त होता है—

संकल्पितं प्रथममेव मया तवार्थे
भर्त्तारमात्मसदृशं सुकृतैर्गता त्वम्।

संदेशात्मक आशीर्वचन देते हुए भगवान् काश्यप दुष्यन्त के प्रति कहते हैं कि संयमरुपी धनवाले हमलोगों का अपने उच्च कुल का तथा बन्धुरहित शकुन्तला के प्रति स्वाभाविक प्रेम-व्यापार का विचार कर तुम इसे गौरव के साथ देखना तथा इसके आगे तो इसके भाग्य के अधीन है—

अस्मान्साधु विचिन्त्य संयमधनानुच्चै कुलं चात्मनः अपने पिता कण्व से शकुन्तला का यह प्रश्न कि 'तात! कदा नु भूयस्तपोवनं प्रेक्षिष्ये" के उत्तर में कण्व का उपदेशात्मक आशीर्वचन प्रस्तुत श्लोक मे परिलक्षित होता है—

भूत्वा चिराय चतुरन्तमहीसपत्नी
दौष्यन्तिमप्रतिरथं तनयं निवेश्य ।
भर्ता तदर्पित कुटुम्बभरेण सार्धं
शान्ते करिष्यसि पद पुनराश्रमेऽस्मिन् ॥

तथा अन्तिम रुप से विदा लेती हुई शकुन्तला को कण्व आशीर्वाद देते हुए कहते हैं कि — 'गच्छ । शिवास्ते पन्थान: सन्तु ।'

राजभवन में प्रविष्ट होती हुई शकुन्तला की दाहिनी आंख फड़क उठती है जिसके शान्त्यर्थ गौतमी की उक्ति मङ्गलात्मक आशीर्वचन का प्रतीक है—'जाते! प्रतिहतममङ्गलम् । सुखानि ते भर्तृकुलदेवता वितरन्तु ।' शाङ्र्गरव आदि का अभिवादन करने पर वे ऋषिगण 'इष्टेन युजस्व' कहकर कामनात्मक आशीर्वचन प्रदान करते है। अस्वीकृता शकुन्तला को सन्तानोत्पत्तिपर्यन्त अपने यहा रखने का आदर्श पुरोहित के द्वारा देना शकुन्तला के प्रति अनुग्रहात्मक आशीर्वचन का प्रतीक है। सार्थवाह नामक व्यापारी के निधन पर सन्ततिरहित उसके एवं समस्त प्रजाजनो के प्रति दुष्यन्त की यह उद्घोषणा —

येन येन वियुज्यन्ते प्रजा: स्निग्धेन बन्धुना ।
स स पापादृते तासां दुष्यन्त इति घुष्यताम् ॥

निश्चयेन सहानुभूति परक आशीर्वचन माना जा सकता है। कालनेमि सन्तति दुर्जय नामक दानवगण के विनाश हेतु मातलि का दुष्यन्त के प्रति यह कहना कि वह दानव समूह वस्तुतः तुम्हारे मित्र इन्द्र द्वारा नहीं जीता जा सकता, समरभूमि मे आप ही उसे मार सकते हैं—

सख्युस्ते स किल शतक्रतोरजय्य:
तस्य त्वं रणशिरसि स्मृतो निहन्ता ।

मैं भी दुष्यन्त शौर्य्य का मातलि के द्वारा गुणगान में भी आशीर्वचन की झलक देखने को मिलती है।

महर्षि मारीच के द्वारा दुष्यन्त को देखकर अपनी पत्नी दाक्षायिनी से यह कहना कि दुष्यन्त के पन्दष के सामने तीक्ष्णधार वाला वज्र इन्द्र का आभूषण मात्र रह गया है -

चापेन यस्य विनिर्वर्तितकर्मजातं
तत्कोटिमत्कुलिशमाभरणं मघोन: ।।—

परोक्षप्रदत्त आर्शीर्वचन कहा जा सकता है। दुष्यन्त के द्वारा महर्षि मारीच को प्रणाम करने पर ऋषि-दम्पति उसे आशीर्वाद देते हैं—

'मारीच.— वत्स ! चिरं जीव्। पृथिवी पालय।
अदिति: — वत्स ! अप्रतिरथा भव। और प्रणामार्थ पादपतिता ।।

शकुन्तला को आशीर्वाद देते हुए महर्षि मारीच कहते हैं कि तेरा पति इन्द्र के सदृश है तथा पुत्र जयन्त के सदृश हैं तुम इन्द्राणी के समान होना—

आखण्डलसमो भर्त्ता जयन्तप्रतिम: सुत:।
आशीरन्या न ते योग्य: पौलोमी सदृशी भव ।।

वहीं अदिति भी शकुन्तला को आशीर्वाद देती हुई कहती हैं कि 'जाते ! भर्त्तर्बहुमता भव।' अय च दीर्घायु: वत्सक उभयकुलनन्दनो भवतु'। दुष्यन्त, शकुन्तला एवं सर्वदमन को एकत्र आशीर्वचन प्रदान करते हुए तीनों को महर्षि श्रद्धा, धन एव विधि की सज्ञा देते हैं।—

दिष्ट्या शकुन्तला साध्वी सदपत्यमिदं भवान्।
श्रद्धा वित्तं विधिश्चेति त्रितयं तत् समागतम् ।।

महर्षि मारीच के द्वारा दुष्यन्त से यह कहे जाने पर कि 'वत्स: ! किं ते भूय: प्रियमुपकरो मि ?' यह सुनकर दुष्यन्त उनसे उनके आर्शीर्वाद के रुप मे यह मागता है कि—

प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिव: सरस्वती श्रुतिमहती महीयताम्।
ममापि च क्षपयतु नीललोहित: पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभू. ।।

वस्तुत: अभिज्ञान शाकुन्तलम् के प्रारम्भ से लेकर अवसानपर्यन्त आशीर्वचन की विविध वाणियाँ यह प्रतिष्ठित करती हैं कि सम्पूर्ण शाकुन्तला आशीर्वचन की श्रृङ्खला मे सुनिबद्ध है और ये आशीर्वचन ही नाटक की कथावस्तु को निरन्तर गतिशीलता प्रदान करते हैं। नि.सन्देह कवि कुल गुरु कालिदास आध्यात्मिक जगत् महान् परिपोषक हैं तथा वे जानते है कि आशीर्वचन मे वह शक्ति सन्निहित है तृण को भी वज्र बना सकती है।

# भर्तृहरिनिरूपिता भारतीया जीवनकला

शोधपत्रलेखक –डॉ ई वें सत्यनारायणमूर्ति
संस्कृतोपन्यासक, मातृश्री संस्कृतकलाशाला जिल्लेल्लमूडि
ग्राम बापटक मण्डलील आन्ध्रप्रदेशराष्ट्रम् पिन्–५२२११३

संस्कृत सारस्वत पय पारावारे कविचन्द्रो भर्तृहरि विशिष्ट विलक्षणञ्च स्थान माक्रमति। नीति-शृङ्गार-वैराग्यशतकरचनया अय न केवल स्वकवितावैभव, अपि तु भारतीयानामादर्शभूता जीवनकला, स्वीय पाण्डित्य, तत्त्ववेत्तृता, पुरुषार्थप्रवणताञ्च कान्तासम्मितया, सरण्या प्रकटय्य कविपण्डितलोकस्यादरपात्र मभवत्। शोधपत्रेऽस्मिन् भर्तृहरिणा स्वीये नीतिशतके निरूपिता आदर्शभूता भारतीया जीवनकला कीदृशीति परिशील्यते।

कविश्च परब्रह्म विचारतत्पर, ज्ञानमार्गानुयायी, तत्त्वमीमांसाचतुरः, पुरुषार्थ–प्रवणश्च सल्लक्ष्यते। अत द्वावायमादावेव नीतिशतके दिक्कालाद्यनवच्छिन्न चिन्मात्र–स्वरूप स्वानुभूत्येकमात्र प्रशान्त तेज ब्रह्मारव्य मुपासितवान्।[1] अस्य दर्शने मौर्ख्य–दौर्जन्य केवल यपरता निन्द्या स्त्याज्याश्च। पाण्डित्य-मान शौर्य-सौजन्य यदृच्छालाभ सन्तुष्टि परोपकार-धैर्यादिय गुणा स्सादर मुपसेव्या दुर्गुणापगमे गुणगणोपार्जने च साधितेऽपि दैवानुग्रहाभावे मानव स्सुख श्रेयश्च न विन्दतीति भर्तृहरेमनीषा। अपिचाय स कर्माचरण दैवस्यापि नियामक मनुते। अतो दोषहान गुणोपादान-दैवानुग्रहा मानवै स्साध्या। सर्वसाध्यसाधके सत्कर्मणि नैव प्रमादो विधेय-इत्यय भर्तृहरे नीतिशतकसार। इयमेव भारतीया जीवनकला च। एव नीतिशतक द्वारेण भर्तृहरिणा धर्म स्तत्सम्बद्धो अर्थश्च सेव्य इति धर्मार्थयो पुरुषार्थयो रुपदेश स्साधु सम्पादित। सिद्धान्तस्यास्य प्रतिपादने कविना हृद्याप्यनवद्या, शास्त्रसम्मतापि सरसा प्रणाली रचिता, या सहृदयानानन्दरसमग्नान्वितनोति। भारतीया जीवनकलाचातुरी च पुर स्थापयति। तत्तामेव धुना परिशीलयाम।

सर्वोऽपि जनो दुःखसम्पर्कविद्वेषी सुखास्वादनसादरश्च प्रतीयते। पर दुःखहाने सुखसम्पादने चानुसरणीया कला पद्धतिर्वा सर्वैं न ज्ञायते। केचिद जानन्तोपि ज्ञातु न समीहन्ते। उपदिष्टा अपि न केवल विप्रतीपा भवन्ति, अपि तूपदेशकानपि खलीकुर्वन्ति। अतएवोपदेशका उपदेश्याश्च विरला दृश्यते। तदुक्त भर्तृहरिणा—

"बोद्धारो मत्सरग्रस्ता प्रभव स्स्मयदूषिता।
अबोधोपहता श्चान्ये जीर्ण मङ्गे सुभाषितम्॥"[2] इति।

---

१ नीतिशतके मङ्गल श्लोक।   २ तत्रैव श्लो-१

अनेन च निर्मत्सरा स्समयविदूरा बोधशालिन एवोपदेशाधिकारिण इति स्पष्टं प्रतिपादितम् ।

श्रेयसि कृतमतिना जनेन मूर्खसंसर्गः प्रथमं त्याज्यः । ते हि न केवलं स्वयं नश्यन्ति, पर दृग्गोचरान् स्मरतोऽपि नाशयन्ति । मूर्खससर्गत्यागावहितेन जनेन युक्तायुक्तवैचक्षण्यायानवद्या विद्या साधनीया । ययाउत्तरङ्ग विनिर्मल सत् श्रेयसि गाढ मनुरक्तं भवति, समाजे मान्यता च साधिता भवति । विदुषा पुनर्थ्यसम्पिपाद–यिषयाऽन्यस्माद्वा हेतुना निरभिमानेन शौर्यहीनेन न भाव्यम् । मानशौर्ययोरभावे विदुषोऽपि जनस्य पराभवपरम्पराऽनिवार्या स्यात् । एवं मानशौर्ययो स्स्वीकारेऽपि जनोऽर्थाभावे व्यर्थो लक्ष्यते । अतोऽर्थसञ्चय. कर्तव्य एवा । पर तत्राऽप्रमत्तताऽऽवश्यकी । यतो लोके जना.-सर्वेगुणा काञ्चन माश्रयन्ति-इतिधिया धर्ममार्ग मविचार्य जाति-कुल-शीलादीन्विनिपत्याऽर्थैकतत्परा इहपरभ्रष्टश्च दृश्यन्ते । अतः कार्याकार्यौ विचार्य धर्ममार्गेणार्था स्सञ्चयाः, यदृच्छालाभ सन्तुष्टिश्च सम्पाद्या । एव मप्यकारणवैरिणा परापक बद्ध-दीक्षाणा दुर्जनाना ससर्ग स्तत्कर्तृका पीडा चानिवार्या दरीदृश्यते । सौजन्याङ्गीकारादन्या प्रतिक्रिया न तत्रोपलभ्यते । न कदापि दौर्जन्यस्य दौर्जन्येनोपशन्ति स्सञ्जच्छाते । अत. प्रियभाषिता-न्याय्य-त्यागादय स्सद्गुणा स्ससेव्या. । सौजन्यस्वीकारेण यद्यपि लौकिकी यात्रा साफलय मश्नुते तथापि परत्र शर्मणे परोपकारपरता स्वीकार्या । तदुक्त भगवता व्यासेन—

"श्लोकार्धेनं प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थ कोटिभिः ।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ॥" इति ।

परं पुरोपकारपरताऽङ्गीकारे वित्तहानिः, कष्टपरम्परा प्राणव्ययश्चापि कदाचि–दापतेत् । तदनर्थपरम्परासहनाय धैर्यादन्य उपायो न दृश्यते । धीरस्य हि जनस्य कष्टपरम्परा दूरमेति, तत्सहिष्णुता वा समागच्छति । एवमपि कदाचिद्विधिवशात् अनर्थसम्पातस्याऽवकाशोऽस्त्येव, परं नास्ति तत्र पुरुषलोप. । विचारणे क्रियमाणे नियतेरपि तत्तत्सुखदुःखनियमने पूर्वसञ्चितं कर्मैव प्रवर्तक मुपलक्ष्यते । अत स्सर्वेषा सर्वसाधक मिहपर-भोगनिमित्त सत्कर्म संसेव्यं बुधेन श्रेयःकांक्षिणा । सर्व मेतत् मनसि निधाय शास्त्रकारि भर्तृहरि स्स्वीयं नीतिशतक, मूर्ख-विद्वद् मानशौर्य-अर्थ-दुर्जन–सुजन-परोपकार-धैर्य-दैव-कर्म पद्धतिभि. विभज्य ज्ञातव्यं वस्तु सक्रम सयुक्तिकञ्च प्रत्यपादयत् ।

श्रेयसि केन तृप्यते ? मूर्खपद्धत्यादि विज्ञानऽभावे कथं दोषहानं गुणोपादानञ्च कर्तुं शक्यते। कथं वा इहपरयो श्रेय स्साध्यं भवेत् ? कथङ्कार भारतीया जीवनकला विज्ञातुं शक्यते ? तदत्र भर्तृहरिणा तत्तत्पदार्थस्वरूपं कथङ्कारं निरूपित मिति परिशीलयामः।

**मूर्खपद्धतिः**— ज्ञानलवदुर्विदग्धता-स्मयः-अविवेचकता-लज्जाराहित्यं-अप्रतिकार्यता चेति मौर्ख्यसारः। वस्तुतः पण्डित-समाजे मूर्खाणां मौनमेवालङ्क्रिया। परं मूर्खो मौन नाश्रयति, न वा उपदेश माद्रियते। तादृशो मूर्खः कथं संस्कार्यः ? वा सन्मार्गेऽव-स्थाप्यः ? इति प्रश्ने अप्रतिकार्य इत्येव युक्ता समाधिः। तदुक्तं भर्तृहरिणा—

> "शक्यो वारयितुं जलेन हुत भुक्छत्रेण सूर्यातपो
> नागेन्द्रो निशिताङ्कुशेन समदो दण्डेन गो गर्दभः।
> व्याधिर्भेषजसंग्रहैश्च विविधै मन्त्रैः प्रयोगैर्विषम्
> सर्वस्यौषध मस्ति शास्त्रविहितं मूर्खस्य नास्त्यौषधम्॥"[1]

मूर्खजनचित्त समाराधनापेक्षया सिकतासु तैलसम्पादनं, मृगतृष्णिकया पिपासो-पशमन, शशविषाणसम्पादनं, मकरदष्ट्रान्तरमणिस्वीकरणं, भुजाभ्यां समुद्रसन्तरणं, कुपित भुजङ्गमस्य शिरसि स्थापन च सुकरमिति भर्तृहरेस्सिद्धान्तः। एवमपि सुधास्यन्दिभि स्सूक्तै र्यो मूर्खान् बालप्रतिनेतु मिच्छति, स बालमृणालतन्तुभि र्मतङ्गजं वद्धुमीहते, शिरीषकुसुमप्रान्तेन वज्रमणि भेत्तुं सन्नह्यति, मधुबिन्दुना क्षाराम्बुधे र्माधुर्यं साधयितु मिच्छतीति वक्तव्यम्। अतो न कदापि मूर्खजना-राधनक्लेश स्स्वीकार्यः। किन्तु मूर्खजनसंसर्गो युक्त्या प्रयत्नैश्च परिहार्यः। मूर्खजनसंसर्ग मुक्ति श्श्रेयोदायिनी जीवनकला[2]।

**विद्वत्पद्धतिः**— शास्त्रोपस्कृतशब्दसुन्दरगिरः, शिष्यप्रदेयाऽऽगमाः, अधिगतपरमार्थाः, नयविनयादिसद्गुण भूषिताः, विद्याऽलङ्काराः जनाः विद्वच्छब्दवाच्याः भवन्ति। विद्याख्य मन्तर्धन न चोरहार्यं, न च कालन श्य मपि तु व्यये कृतेऽपि नित्यं वर्धते। हारकुसुम-केयूराद्यलङ्करापेक्षया विद्यासम्पादितं वाग्भूषण मक्षरं भवति। विद्यैव नरस्य रूप-भोग-यशस्-सुखसम्पादिका बान्धव-देवता-गुर्वनुग्रहप्रसादिनी राजपूज्यता-विधायिनी च दृश्यते। मरालवद्विवेचनशीलया साधनीभूतया विद्यया दया-दाक्षिण्य-

---

१. नीतिशतके-श्लो–१०; २. तत्रैव, श्लो १-१०,'

नय-शौर्य-आर्जव-क्षमादय सद्गुणा सम्पादनीयाः। धीजाड्या-पहार सत्यपालन-मानोन्नति-पापाऽपाकरण-चेतोनैर्मल्यादूर्जि-जीषया तुलयै सद्भि सङ्गति सम्पाद्या। दाताद्वशा अपि विद्वांसो यत्र स्थले दारिद्र्य मनु भवन्ति, तन्न विदुषां दोष., पर तत्रत्यानां धनिना दूषणम्। कुपितोऽपि विधाता विदुषा वैदग्ध्य मपाकर्तुं न शक्नोति। निर्धना अपि रससिद्धाः कवयोऽधिगतपरमार्थाः पण्डिताश्च लोकस्य बहुमता भवन्ति। तैं स्सह विरोधो यस्य कस्यापि विनाश मेवोपजनयति। अतोऽनवद्या विद्या सद्गुणाश्च साधनीया.[1]।

**मानशौर्यपद्धतिः—** सद्गुणाध्यायो भर्तृहरि रत्र विभागे विदुषा समाश्रयणीया जीवनशैली सविशदं प्रतिपादितवान्। मानवः प्रकृते र्बहून् विज्ञानमयान् विषयान् समधि गतवान्। मानशौर्यंयो रपि विषये सिंह-कुसुमस्तबक-सागर-सूर्यकान्तमणिभ्यो बहु ज्ञातुं प्रभवति। तथाहि सिंह स्तावत् क्षुत्क्षामोऽपि जराकृशोऽपि कष्टां दशा मापन्नोऽपि, विपन्नदीधितिरपि, प्राणेषु नश्यत्स्वपि, न जीर्णं तृणं मत्ति, किन्तु मत्ते-भेन्द्र विभिन्नकुम्भपिशितमेव सत्त्वानुरूप माहार मभिलषति। शुनक स्त्वत्र व्यतिरेको-दाहरणं भवति। स हि स्वल्पस्नायुवसावसेकमलिनं निर्मांस मप्यस्थि प्राप्य, क्षुधा शान्त्य भावेऽपि हीनप्रकृतितया मोदते। पिण्डमात्रप्रदस्य पुरतः लाङ्गूलचालन वदनोद-रदर्शनादिक्रियः कुर्वन् श्वा स्वचापल माविष्करोति। अतस्सिंहवन्मान शौर्येति राश्रयजीया, न तु शुनकसम्मता नीचप्रकृतिः। यथा कुसुमस्तबको शिरसि देवता-सन्निधौ वा विराजते, वने वा निर्लिप्तं कालं यापयति, तथा मनस्विना ओऽन्तत्य वनवासो वाऽङ्कीकार्यः शेषो भुवनशोणि, त कमठपति, तमपि समुद्रः धरते। एव महता चरित्र विभूतयो निस्सीमानो भवन्ति। नीचा स्तु-पितरि क्लेश-विवशे प्राणोच्छेद कुलिशाहृति वाऽनभ्युपगम्य स्वीयप्राणरक्षण-व्यग्रस्समुद्रपतितो मैनाक इव स्वार्थपरायणा भवन्ति। परिवर्तिनि संसारे जातस्य मरणं, मृतस्य पुनर्जनन च सामान्य, पर येन जातेन वंश स्समुन्नति याति स एव जातः। अचेतनोऽपीनकान्तः सवितुः पादै स्ताडितः प्रज्वलति। तथा मनस्विना निकृतिप्रतीकारपरेण भाव्यम्। मुक्त मूर्खसङ्ग-स्यापि विदुषो मानशौर्ययो प्रभावे समुन्नति र्न लभ्यते[2]।

१. नीतिशतके-श्लो-११-२०, २. तत्रैव श्लो २१-३१,

**अर्थपद्धतिः**—भर्तृहरि र्लोकयात्राया मर्थस्य प्राधान्य प्रतिपाद्य आर्थ विनियोग पद्धति निरूप्य, अन्ततोऽर्थ सम्पादनलालसताया नैरर्थक्य मुपपाद्य धर्माविरुद्धेन मार्गेणार्थस्योपादेयता स्पष्ट मुपदिदेश।

केवलार्थतत्परा जना जाति-गुणगण-शील-पर्राक्रमशादीन् अविचार्य, अर्थेनैकेन विना गुणान् तृणलवप्रायान् विभाव्य अर्थार्जनरता दृश्यन्ते। वित्तवानेव नरः कुलीनः पण्डित श्रुतवान् गुणज्ञो दर्शनीयश्च सभाव्यते। यत स्सर्वे गुणाः। काञ्चन माश्रयन्ति। अथ मर्थप्रराणा विचारप्रकारः एव मार्जितमपि धन दौर्मन्त्र्यात् नृपतिरिव, लालनात्सुत इव, अनध्ययना द्विप्र इव, कुतनयात् कुल मिव खलोपा-सनाच्छील मिव, मद्याद्धीरिव, अनवेक्षणात् कृषि रिव, त्यागप्रमादाभ्या विनाश मुपैति। यतो दान-भोग-नाशा स्त्रय एव गतयोऽर्थस्या दान भोगयो रभावेऽर्थस्व विनाशोऽनिवार्य.। परं यस्य वित्त दानायोपयुक्त, स अपगतधनोऽपि शाणोल्लीढो मणिरिव, आश्यानपुलिना शरन्नदीव कलाशेष श्चन्द्र इ· सुरतमृदिता बालवनितेव च तनिम्ना शोभते। आज्ञा, प्रदान-शक्ति, ब्राह्मणपालनं, सत्पात्रदान, भोगो, मित्रसंरक्षण च अर्थै-स्साधनीयम्। एषा मुपयोगाना मभावे विद्यमानोऽप्यर्थो व्यर्थः। अर्थपराणा नृपाणा नीति स्तावत्-सत्यानृता, परुषा प्रिय भाषिणी, हिंस्रा दयालु, र्थपरा वदान्या, नित्यव्यया प्रचुरनित्य धनागमा च सती वाराङ्गना मनुकरोति। एव मर्थस्य प्राधान्ये सत्यपि तदर्थं धर्मभ्रंश, नीचमार्गप्रवणता च न स्त्रीकार्या। धर्मानुबद्ध एव मार्ग स्समादरणीय.। कथित भर्तृहरिणा—

"यद्धात्रा निजफालपट्टलिखित स्तोकं महद्वा धनं
तत्प्राप्नोति मरुस्थलेऽपि नितरा मेरौ च नातोधिकम्।
तद्धीरो भव वित्तवत्सु कृपणा वृत्ति वृथा माकृथा।
कूपे पश्य पयोनिधावपि घटो गृह्णाति तुल्यं जलम्॥[1]" इति[2]।

**दुर्जनपद्धतिः**—अर्थे धर्मपथा साधितेऽपि दुर्जनपद्धते रज्ञाने न खलसंसर्गो हातु शक्यते नापि सुखं लभ्यते जनस्य। यतो दुर्जना बाह्यस्य गुणगणे न विचारयन्ति। अपि च अकरुणत्व मकारण-विग्रह, परधने परयोषिति च स्पृहा, सुजनबन्धु जनेष्वस-हिष्णुता च दुर्जनस्वभाव.। अतएव विद्यावानपि दुर्जनो मणिभूषितस्सर्प इव

१. नीतिशतके श्लो. ४०   २. तत्रैव ३१-४० श्लो,·

परिहर्तव्य । दुर्जनाना मयं स्वभावो यत् गुणेषु दोषत्वारोपण कुतूहलः । ते हि ही जाड्य, व्रतशुचिलं दम्भं, शौर्यं नैर्घृण्य, प्रियालपन दैन्य, तेजः गर्व, वक्तव्यशक्ति-स्थैर्य मुखरत्व च भावयन्ति । परिशीलने दुर्जनै रवनीकृतो गुणो न लक्ष्यते । दुर्जना मौनिन मूक वदन्ति । पाश्वस्थ धृष्ट कथयन्ति, दूरस्थ मप्रगल्भ भावयन्ति, क्षमाशालिन भीरु प्रतिपादयन्ति, असहनपर मनभिजात लक्षयन्ति । एतादृशा खला यदि राजाङ्गणगता स्यदा जनाना दुरवस्था वर्णयितु मशक्या भवन्ति । दुर्जनमैत्री पुन रारम्भगुर्वी सती पूर्वार्धगता दिनकरछायेव क्रमेण क्षयिणी भवति । यथा मृगमीनयो लुंब्धक धीवरौ निष्कारण-वैरिणौ, तथा सता दुर्जना निर्व्याजशत्रवः । अतो विदुषा दुर्जनेषु-अप्रमत्तेन भाव्यम् ।

**सुजनपद्धतिः** —: दुर्जनसंसर्गो यथाऽवश्यं त्याज्य स्तथा सज्जनसङ्गति रपि यत्नपूर्वक साधनीया । यतो लोकस्थिते स्सज्जना एवाधारभूता. । सज्जन गुणा हि कल्याणकारका लोकस्य ।

सज्जनसङ्गतौ वाञ्छा, परगुणेषु प्रीतिः, विद्यासु व्यसन, स्वयोषित रतिः, लोकापवादाद्भीतिः, भगवति भक्तिः, इन्द्रियजये शक्ति, खलेष्वसंसर्गः, विपदि धैर्य, अभ्युदये क्षमा, सदसि वाक्पटुत्व, युधि विक्रमः, यशसि श्रुतौ च व्यसन, सता प्रकृतिसिद्धाः । त्यागो विनय स्सत्यपालन नैर्मल्य च सता मलङ्काराः । परधन-परयोषित्सु वैमुख्य, तृष्णाराहित्य, सर्वभूतानुकम्पा च श्रेयसा मार्गः । सन्तो हि निरन्तरयया वृत्या, सपत्नूल्पलकोमलेन हृदयेन, आपत्सु शिलासङ्घात कर्कशया रीत्या, महाजनमार्गानुसरणात्मिकया शैल्या चाऽसि धाराव्रत मनुतिष्ठन्ति । सता हृदि प्रविष्ट किमपि वस्तु शुक्तिपतित जलमिव मौक्तिकता माधत्ते । परिशीलने सतां व्यवहार स्सर्वोऽपि कष्टसाध्यो विस्मयजनकश्च प्रतीयते । तत्प्रतिपादित भर्तृहरिणा—

> नम्रत्वेनोन्नमन्तः परगुणक थनै स्स्वान्गुणान् ख्यापयन्त.
>
> स्वार्थान् सम्पादयन्तो वितत पृथुतरारम्भ यत्नाः परार्थे ।
>
> क्षान्त्यैवाक्षेपरूक्षाक्षर मुखर मुखान् दुर्जनान् दुःखयन्त
>
> सन्त स्साश्चर्यचार्या जगति बहुमता कस्य नाऽभ्यर्चनीया. ।।[1]

अतो जगति बहुमताना सद्गुणाना सम्पादने परो यत्नो विधेय. श्रेयःकाङ्क्षिणी [2] ।

---

१. नीतिशतके श्लो ६० ,　　२. तत्रैव श्लो ५१-६० ,

**परोपकारपद्धति** — यद्यपि परोपकार स्सद्गुणेष्वन्यतम', तथापि इहपरश्रेयःपदवी प्रपित्सुना जनेन परोपकारारव्य परो धर्मो नितरा सेव्य इति ख्यापनाय महाकविना भर्तृहरिणा श्लोकदशकेन सुरुचिर परोपकारपद्धति निरुपिता ।

प्रकृतिपरिशीलने क्रियमाणे मानवसङ्घात् वृक्षादयश्चेतनाना मपि परोपकारनिरताना मवस्था गरीयसी दरीदृश्यते । वृक्षा. फलोद्गमै स्समृद्धा अपि नम्रा भवन्ति । नवाम्बुस्फीता अपि मेघा स्सन्निहितं विलम्बमाना दृश्यन्ते । परोपकृति निपुणाः गावो निरत लोक मुपकुर्वन्ति । कादस्य परोपकारप्रवणताचन्दन मेवाऽलङ्करणम् । अनभ्यर्थितोऽपि सूर्य. पद्माकर, चन्द्र कुवलयचक्रवालं मेघो जलं चानुगृह्णाति । य परेषा मुपकुर्वन्ति स एव वस्तुतो धन्यजीवी । अन्ये तु ब्रह्माण्डोदुम्बरान्तर्मशकतु या भवन्ति । अत एव सन्त स्वार्थान् परित्यज्यापि परानुपकुर्वन्ति । मनसि वचसि काये च पुण्यपीयूषपूर्णा स्त्रिभुवन मुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्तः, परगुण-परमाणून् पर्वतसदृशान् भावयन्त स्सन्त स्सर्वे रम्यवंनीया । तदभ्यर्चितस्थान सम्पादनाय विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्[1] ।

**धैर्यपद्धतिः** —: समग्रगुणगणसम्पादनेऽपि धैर्यस्यात्मागुणस्य अभावे जनः किमपि कार्य साधयितुं न प्रभवति लौकिकी यात्रा दुःखपरम्परासमाकीर्णा । यो धैर्येण दुःखपरम्परा सहते स एव श्रेयसि, कृतावस्थानो भवेत् । अत स्सर्वगुणजीवभूत धैर्यं सम्पादनीयम् ।

देवा रत्नै र्न तुतुषुः, भीमविषेण न भीताः, सुधासम्पादन यावन्न विश्रान्ताः । एव विघ्नपरम्परा मतिक्रम्य ये प्रारब्ध कार्यं निश्चयेन साधयन्ति, त एव धीराः । कार्यार्थी जनः सुखदुःखे न गणयति । पृथिव्यां पर्यङ्के वा शेते , शाक शाल्योदन वा भुङ्क्ते, कन्था दिव्याम्बरं वा धरते, परं प्रारब्ध कार्यं तु न परित्यजति । धीरो नीतिनिपुणाना निन्दाः स्तुती र्वा न गणयति, सम्पद प्रवेशनिर्गमने न मनसि करोति, मरणमपि प्रतिरोधक न मनुते । किन्तु न्याय्यमार्गमेव तस्याशयः । अधोमुख कृतोऽपि वह्नि रूर्ध्वमेव ज्वलते, तथा धीरोऽपि कदर्थितोऽपि सन् धैर्यं न जहाति । धैर्यलक्षणस्य शीलस्य परित्यागापेक्षया कैवात्युपायेन मरणमपि वरम् । एवं च शील सधैर्यं धारयति स लोकमान्य शक्तिसम्पन्न श्चाश्चर्य भवति । तन्निरूपित तत्त्वकोविदेन भर्तृहरिणा —

१. नीतिशतके श्लो ६१-७० ;

वह्नि स्तस्य जलायते जलायते जलनिधिः कुल्यायते तत्क्षणात्
मेरुः स्वल्पशिलायते मृगपति स्सद्यः कुरङ्गायते।
व्यालो माल्यगुणायते विषरसः पीयूषवर्षायते
यस्याङ्गेऽखिललोकवल्लभतमं शील समुन्मीलति ॥[1] इति।[2]

**दैवपद्धतिः**—: निखिल गुण भूषितस्यापि जनस्य कदाचित् विधिवशा दनिर्वाच्या दुरवस्था भवेत्। अत स्तदपनोदनाय दैवानुग्रहो यदृच्छालाभ सन्तुष्टि श्चाप्यावश्यकः। दैव पुरुषकारौ रथचक्राविव समं प्राधान्यं भजत। यथाह्येकेन चक्रेन रथस्य गति र्न सुसाध्या तथा केवल पुरुषकारेण सर्व कार्यं न सुकरम्। अतोऽत्र दैवप्राधान्य दशभि श्श्लोकै भर्तृहरिणा प्रतिपादितम्।

यस्य बृहस्पति र्मन्त्री, प्रहरणं वज्रं, सुरा स्सैनिकाः, स्वर्गो दुर्गं, ऐरावणो वारणा स्सोऽपि बलभिदाश्चर्य बलान्वित स्सङ्गरे शत्रुभि र्विजित इतियत् तत्र दैव मेव निमित्तमङ्गीकार्यम्। एव भक्ष्याभावाऽहिमञ्जूषां दष्ट्वा सर्पेण भक्षितस्याखो र्वृत्तान्तः, अनातपसेवनाय तालवृक्ष माश्रितवतः खल्वाटस्य शिरसि तालफलसम्पातः, सुधांशो रोषधीशस्य महेश्वर शिरोभूषणस्यापि चन्द्रस्य वृद्धिक्षयसम्भवश्च दैवप्राधान्य प्रख्यापयन्ति। निरपराधिना गज-भुजग-विहङ्गमाना बन्धन, शशिदिवाकरयो र्ग्रहपीडन, मतिमतां दरिद्रता च उक्त मर्थं द्रढयन्ति। एव दैवे प्रतिकूलकारिणि काप्रतिक्रियेति चेत्, दैवानुग्रह सम्पादनं यदृच्छालाभ सन्तुष्टि रिति द्वय मेवेति वक्तव्यम्। तदाख्यात भर्तृहरिणा—

दैवेन प्रभुणा स्वयं जगति यद्यस्य प्रमाणीकृतं
तत्तस्योपनमे न्मनागपि महान्नैवाश्रयः कारणम्।
सर्वाशा परिपूरके जलधरे वर्षत्यपि प्रत्यह
सूक्ष्मा एव पतन्ति चातकमुखे द्वित्राः पयोबिन्दवः ॥[3]" इति।
सर्वस्यापि समुपनतस्य भागवदनुग्रहतया स्वीकरणे
कष्टपरम्परा सोढुं शक्या भवेत्। अतस्तादृशी भावना संभाव्या।[4]

१. नीतिशतके श्लो ७८
२. तत्रैव श्लो ७१-८०
३. तत्रैव श्लो. ६०
४. तत्रैव ८१-६० श्लो,

**कर्मपद्धतिः —**. विहितेऽपि दैवानुग्रह साधनप्रयत्ने, स्वीकृतायामपि यदृच्छालाभ सन्तुष्टौ दुःखाऽऽपगमे हेतु रवश्य मन्वेष्टव्यः । परिशीलने क्रियमाणे पूर्वजना सञ्चितात् कर्मणोऽन्यत्तत्र हेतु र्नोपपद्यते । "अवश्य मनुभोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ।" इति हि आर्योक्तिः । अत स्सत्कर्माचरण मेव दु खपरम्परातारकं, इहपरश्रेयो दायकं चाऽङ्गी-कार्यम् । अत एव भर्तृहरिणा कर्मपद्धतौ सत्कर्माचरणस्य निरतिशय प्राधान्यं निरूपितम् ।

कष्टापगमाय देवन्नमस्याम इति चे त्तेऽपि हतविधे र्वशगा एवा विधौ वन्दितेऽपि स न स्वतन्त्रा । किन्तु कर्मैक फलदा । अत स्समस्तं फलं कर्माऽऽयत्त विभावनीयम् । ब्रह्मणः कुलावृत्तिताया, विष्णो र्दशावतार महासङ्कट निपातने, कपालपाणे र्महेशस्य भिक्षाटने, सूर्यस्य सतताविश्रान्तगमनप्रयासे च कर्मैव निमित्तम् । शुभे कर्मणि व्ययिते, शुभ्र भद्म सविभ्रमा युवतयः । श्वेतातपत्रोज्ज्वला लक्ष्मीश्च कलहक्रीडात्रुठत्तन्तुक मुक्ताजालमिवाऽदृश्यता प्राप्नोति । अतो विवेचकेन मनीषिणाऽऽदावेव कर्मविपाक मालोच्य शुभाऽशुभात्मके कर्मात्ति प्रवेशो विधेयः । अन्यथा आतरभस-कृताना कर्मणा विपाक शल्यतुल्यो हृदयदाही च सम्पद्यते । मनुजस्य कर्माण्येव काले निक्षिप्तबीजा वृक्षा इव समये फलन्ति न तु कुल-शील-विद्या-सेवादय. जनो जलेमज्जतु, मेरुशिखर प्रयातु, शत्रून् जयतु, सकला. कलाशिक्षताम्, आकाश मुत्पततु, तथापि नाऽभाव्य भवति, भव्य न नश्यति । वन-रण-शत्रु-जल-अग्नि मध्यस्थस्यापि लोकस्य पुराकृतादन्यं रक्षक नास्ति । अत स्सत्क्रियैवाराधनीया । सैव नाश्यं नाशयति, रक्ष्य न रक्षति । तदुक्त भर्तृहरिणा—

या साधूश्च खलान् करोति विदुषो मूर्खान् हितान् द्वेषिण
प्रत्यक्ष कुरुते परोक्ष ममृत हालाहलं तत्क्षणात् ।
तामाराधय सत्क्रिया भगवती भोक्तुं फलं वाञ्छितं
हे साधो ! व्यसनै र्गुणेषु विपुलेष्वास्या वृथा माकृथाः ।[1] इति[2] ।

एव भर्तृहरे नीतिशतकस्य परिशीलने ईदृशी जीवनकला न केवलं भारतीयै रपितु सर्वै र्मानवै स्संसेव्या । अनया प्रपञ्चे परिदृश्यमाना अशान्ति विद्वेषाश्चावश्य मुपशान्ति मेष्यन्ति-इति स्पष्ट प्रतीयते । भर्तृहरिनिरुपितेयं जीवनपद्धति र्भारतीयाना परमादर्श भूतेयत्रा नास्ति सन्देहः ।

"तृष्णा छिन्धि, भज क्षमा, जहि मद पापे रतिं माकृथाः
सत्य ब्रूह्यनुयाहि साधुपदवी, सेवस्व विद्वज्जनम् ।
मान्यान् मानय, विद्विषोऽप्यनुनय, प्रख्यापय प्रश्रयम्
कीर्ति पालय, दुःखिते कुरु दया मेतत्सतां चेष्टितम् ॥[3]"

---

१. नीतशतके श्लो. ९३,  २. तत्रै श्लो–९९-१००
३. नीतिशतके श्लो. ६९ ,

# ENGLISH DEPARTMENT

# Incidencce of Poverty in India-Its Estimation & Related Data Gaps

A.C. Kulshreshtha, Gulab Singh &
Ramesh Kohli Central Statistical
Organisation, New Delhi

## Introduction

Removal of poverty and improvement in the standard of living of the masses have remained the basic objectives of the Indian Planning These are being achieved through planned economic growth and target oriented poverty alleviation programmes for the poor To help formulate effective schemes for poverty alleviation, measurement, of poverty is essential. Though there is difference of opinion among the experts on the methodology to be adopted for its measurement, the importance of quantification of poverty is well recognised This paper describes the official methodology used by Planning Commission for estimation of propotion and number of poor and the available data source used for this purpose. Data gaps relating to estimation of incidence of poverty have also been enumerated.

## 2. Cfficial Methodology for Estimation of Proportion and number of poor

The question of defining poverty line was first mooted by the Indian Labour Conference in 1957 A definition of poverty in the Indian Context, was attempted for the first time by a distinguished working Group set up by the Planning Commission, Government of India in July, 1962. After taking into account the recommendations of the nutrition Advisory Committee of the Indian Council of

Views expressed in the pape rare the personal views of the authors and not of the organisation to which they belong.

Medical Research (ICMR) in 1958, regarding the balanced diet, the working group came to the view that the national minimum for each household of 5 persons (4 adult consumption units) should not be less than Rs. 100 per month at 1960-61 prices or Rs 20 per capita. It further suggested that for urban areas this figures should be raised to Rs 125 per month per household or Rs. 25 per capita to cover the higher prices of the physical volume of commodities on which the national minimum is calculated. By implication, this meant that the corresponding amount in the rural areas would work out to Rs. 18.90.

Dandekar and Rath (1971) used an average calorie norm of 2250 Calories per capita per day for both rural and urban areas as a criterion to define the poverty line so as to segregate the poor from non-poor. On the basis of NSS data on consumption expenditure, the study revealed that an average monthly per capita expenditure of Rs. 14 20 in the rural areas and an average monthly per capita expenditure of Rs. 22.60 in the urban areas both at 1960-61 prices would suffice to meet the requisite calorie requirements Prof. Sukhatme argued that average calorie requirement does not represent the minimum below which a person can be treated as undernourished. Bardhan (1971), Rudra (1974), Minhas (1969) and others forwarded different estimates of incidence of poverty at regional level following mainly the national norms.

Planning Commission constituted 'Task Force on Projections of Minimum Needs and Effective Consumption Demand' in 1979 to recommend a poverty line. The methodology as formulated by the 'Task Force' has since then, been used in estimating the incidence of poverty in Planning Commission.

The poverty line has been defined by the 'Task Force' (1979) as that expenditure level, which meet the average per capita, per day calorie intake of 2400 Calories for rural areas and 2100 Calories for urban areas. The monetary equivalent of these norms (i e. poverty lines) have been worked out using the 28th round (1973-74) National Sample Survey (NSS) data relating to private consumption both in quantitative and value terms. Using appropriate conversion factors, the calorie content of consumption baskets corresponding to various expenditure classes have been worked out Applying inverse linear interpolation methods to the data on average per capita monthly expenditure and the associated calorie content of food items in the class, separately for rural and urban areas, it has been estimated that, on an average Rs. 49 09 per capita per month satisfied a calorie requirement of 2400 Calories per capita per day in rural areas and Rs. 56 64 per capita per month satisfied a calorie requirement of 2100 Calories per capita per day in urban areas both at 1973-74 prices The poverty line so estimated implies that having this amount, on an average, an individual will distribute his expenditure between food and non-food items in such a way that the calorie content of his food consumption satisfies the desired calorie norm. Thus, the concept of poverty line used here is partly normative and partly behavioural.

The poverty cut-off points, as estimated above are updated over time by using relevant price inflators weighted by appropriate consumption basket, to take care of the changes in price level. Using the updated poverty line and the data on the size distribution of population by expenditure classes from the household consumption survey conducted by National Sample Survey Organisation (NSSO), for the reference year, the number and proportion of persons below the poverty line are estimated The

poverty estimates are made separately for rural and urban areas and at national and State levels, using appropriate consumption distributions. In estimating the State level incidence of poverty, the national calorie norm and the corresponding all India poverty line have been applied on the State specific household consumption distribution, separately for rural and urban areas.

It has been observed that the national total of household consumption expenditure as estimated on the basis of the result of NSS household consumption survey is different from the national private final consumption expenditure estimated in National Accounts Statistics (NAS). To make the estimates of total private consumption expenditure consistent from both the sources the expenditure levels reported by the NSS is raised by a factor of proportion, capturing the differences between the total private consumption as obtained from NSS and the total as estimated by NAS. This factor is applied uniformly to all expenditure classes. The incidence of poverty is then estimated with the adjusted distribution of consumption expenditure The estimates of poverty based on the aforesaid procedure are presented below :—

Table : Estimates of poverty (All India)

| | | 1972-73 | 1977-78 | 1983-84 | 1987-88 |
|---|---|---|---|---|---|
| Poverty line (Rs ) | Rural | 41.0 | 60 0 | 101 8 | 131.8 |
| (at current prices) | Urban | 47 0 | 69 9 | 117 5 | 152.1 |
| Proportion of | Rural | 54.1 | 51 2 | 40.4 | 33.4 |
| People below | Urban | 41.2 | 38.2 | 28.1 | 20 1 |
| Poverty line | Combined | 51.5 | 48 3 | 37 4 | 29 9 |

Source : Planning Commission, Government of India

There has been significant decline in the incidence of poverty over years The decline in the incidence of poverty has been achieved due to combined effect of faster economic growth and poverty alleviation programmes.

The procedure for estimation of poverty has been criticised and its limitations have been pointed out from a number of angles. Broadly they fall in two categories the first related to the concept itself and the second arising from the data and methodologies used in India for estimating the poverty line. Planning Commission, Government of India constituted in September 1989, an Expert Group to consider methodological and conceptual aspects of estimation of proportion and number of poor in India. The Expert Group has since submitted its report in July 1993 and its recommendations are under the consideration of the Government of India.

## 3 Poverty & Agriculture

Fortunes of rural poor in India are intrinsically liked with the Agriculture sector as it contributes about 30 per cent to the GDP and provides sustenance to more than two thirds of the people. Agriculture impacts on the poor in more ways than one. A higher agricultural output leads to lower food prices as well as improve food availability of poor. It will not only generate employment opportunities in the agriculture sector but would also affect the growth in the non-agricultural sector, through linkage effects thereby creating income earning opportunities Agricultural growth on the whole will boost the overall economic development, However. if agricultural growth involves a shift from labour intensive crops and technologies to labour saving ones this might as well work to the detriment of the rural poor rather than beneficial as wages from

agricultural employment constitute a major component of the incomes of the poor. Evidences from India, however, suggest that on the whole the green revolution resulted in the net increase of labour use and real wage rates, Dantwala (1985)

## 4. Data Source for Estimating Incidence of poverty

The data on income distribution by size classes is required for estimation of incidence of poverty The time series data on income distribution by size classes is, however, not available in India, in the absence of which the country wide data on consumer expenditure, available through NSS consumer expenditure surveys, has become the only source of data for the poverty related studies

NSSO has conducted household consumer expenditure surveys since its first round started in October 1950 througn the 28th round (1973-74) After 26th round, it decided to conduct the survey once in 5 years only starting from 27th round onwards. So far, four quinquennial surveys have been conducted in 27th (1972-73), 32nd (1977-78), 38th (1983) and 43rd (1987-88) rounds, To maintain the continuity of survey data on consumer expenditure for construction of time-series, NSSO has carried out thin sample survey on household consumer expenditure in addition to quinquennial surveys. This has started from 42nd (1986-87) round

## 5. Data gaps Relating to poverty Estimation Studies

(1) The poverty line is anchored in a norm for calorie consumption which is taken as representing an absolute nutritional requirement based on the age, sex and activity status of the entire population. To buy the requisite calories one requires a definite income. The measurement of the extent of inequality in the distribution of income in the country, therefore, requires data on

household income distribution by size classes Inspite of its importance and direct relevance to economic policy formulation, the study of income distribution in the country has not come to from a regular exercise mainly because of the paucity of the basic data relating to income distribution. In the absence of time series data on household income distribution, most poverty related studies in India have relied on NSS Consumer expenditure survey data.

(2) Income received by the households by far has the largest share in the total and includes not only the labour and property income generated through production of goods and services but also the transfer incomes received mainly from the government in the form of reliefs, unemployment insurance benefits, pension ets. Besides these items of factor income and transfers, households also receive income in kind in the form of community and social services provided by the government, like education, medical and health and recreation which are received by the households without any financial payments (or concessional payments). Such services are expected to accrue proportionately more to lower income groups than the rest Comprehensive study of household income distribution should, therefore, include all these aspects.

NSSO have been making attempts to collect data on household income the latest being through the "Pilot Survey on Income, consumption and Saving" in 1983-84 in both rural and urban areas of five states, namely, Maharashtra, Tamil Nadu. Uttar pradesh, Haryana, Orissa and the metropolitan cities of Calcutta, Bombay, Delhi and Madras. The primary objective of the survey is to explore the possibility of evolving an operationally feasible and technologically sound methodology for the collection of data on household income through household surveys. In this survey two approaches

were adopted for the measurement of household income, namely (i) Collection of data on income from different sources of income of sampled households and (ii) collection of data on household consumption and savings which would give an alternative estimate of household income Unfortunately, it has not been possible so far to evolve a suitable methodology for collection of data on household income through household surveys. The efforts in this direction shold, however, be continued.

(3) Non-availability of appropriate state specific cost of living indices is an important gap in the data availability for making state specific estimates of poverty Steps are required to be taken to construct the price indices represeting changes in consumer prices of the poor at relevant disaggregated levels.

(4) The estimates of the incidence of poverty as derived from NSS consumption expenditure distribution provide a composite picture of the number of people whose per capita consumption expenditure is below the desired minimum It does not however, provide a complete picture of the state of well being of the population; for example, it does not tell us anything about the living environment. The data is, therefore, required for dissecting the poverty profile in terms of dominant characteristics, namely, their distribution by region, social group, family characteristic, like, size, education, age, sex of the head of the household, dependency ratio etc.

## *REFERENCES :*

1. Bardhan, P.K. (1971) : On the minimum level of living and the rural poor-A further note Indian Eco. Rev. April 6.
2. Dandekar, V M and Rath, N. (1971) : Poverty in India. Indian School of political Economy, Pune.

3. Dantwala, M L. (1985) : Technology, growth and equity in Agriculture. In Mellor and Desai (eds) 1985-Agricultural growth and rural poverty-variations on a theme by Dharam Narain IFPRI/John Hopkins University Press, Baltimore and London.

4. Minhas, B S (1969) : Fourth Plan–Objectives and Policy Frame Vohra and Co, New Delhi.

5 Rudra, A. (1974) : Minimum level of living In T.N. Srinivasan and P K Bardhan (eds) 1974. A Statistical examination in poverty and income distribution. Statistical Publishing Society, Calcutta.

6. Planning Commission, Government of India (1979) · Report of the Task Force on Projections of Minimum Needs and Effectiv Consumption Demand.

7. Planning Commission, Government of India (1993) : Report of the Expert Group on Estimation of Proportion and Number of Poor.

# The Indra Image in Kalidasa's Works

Anjalika Mukhopadhyay
Calcutta

Mythology is a growing science, it is a mixture of religious beliefs, popular imagination, historical and social development A particular mythology, if followed meticulously, reflects fully the systematic growth of a thought and belief with its entire paraphernalia of outside influences

At the beginning, all religion had a base of fear, wonder and curiosity for the unknown Natural and super-natural powers with their great potential appeared wonderful and awesome to the simple primitive people Their dependence upon natural phenomena was responsible for their feeling of great reverence towards those powers Their unrestrained imagination conjured up images about them, endowing them with super human position and attributes. Their own appearances and acts provided models This was the beginning of a myth. As soon as it started rolling, it gathered around it snippets from different culture, sectarian beliefs poetic imagination and popular thoughts Thus it grows and never actually stops growing - it just changes its course from time, to time for better or for worse, from the alter of magnificence to the dark alley of oblivion.

We have here a most important God of ancient age for our discussion. Indra, the god of rain and lightning was considered most powerful in the Vedic age It is proved by the number of hymns attributed to him. But in subsequent ages his image deteriorated considerably. His case is an excellent example of mythological peculiarity.

Indra, as a mythical god, started his career very early. Even in Vedic times his name was associated with many myths. His lengthy presence on the Hindu religious scene gained him legends galore. As he was the hero of the Vedic age, his career was made most colourful by his admirers. He was given a powerful figure and many great deeds were assigned to him He was addressed alone and again with Maruts and Agni. All these factors lead us to consider him the greatest deity of the Vedic age.

But as this god reaches the age of our poet, crossing the turbulent phases of the Epics and Puranas, when simple devotion faded into the background, yeilding place for outrageous exaggeration, this god undergoes most pathetic transformation. He is still regarded as the leader of the divine society but his moral and physical standard plummetted regrettably We find him a sadly reduced shadow of the past glorious personality who rushes for help to mortals and doesnot hesitate to resort to unfair means to keep his position. We find his status threatened every now and then by new claimants who perform a hundred sacrifices or practise really difficult penances.

We shall now discuss different legends concerning the name of Indra, and how Kalidasa looks at them. The most important myth of Indra's career is his killing of the demon Vrtra. Kalidasa frequently uses such epithets as Vrtraha and Vṛtrasatru. cp.

tuṭoṣa viryatiśayena vrtraha R. 3 62. and

kṛudhe'pi pakṣacchidi vrtrasatravavedanajnam kulisaksatanam. K. 1. 20.

This story has its root in the RV where numerous references to the enmity and fight are found Various interpretations are given by Eastern and Western scholars slike to ascertain the truth of the myth. Indra was definitely the personafied form of rain and thunder-storm. But this true identity was soon lost in a haze of later conjectures and Indra came out as the all powerful king of gods while Vrtra was a powerful demon. The main points of the story describe that it was not an easy task for Indra to kill Vṛtra and after several unsuccessful attempts he could kill him with his weapon vajra The weapon was made of the bones of the sage Dadhici 2 MBh gives a detailed varsion of the story 3

1. RV. 1.16 80. 1.52. 1 52. 6. 1 80.4. 1. 103. 2. etc.
2 RV. 1 84. 13. KYV.5.5 6.6.
3. MBh. santi. 342. 39-41 udyoga. 10. 39:

Kalidasa hints at the killing of demon Namuci by Indra by calling him the enemy of Namuci, Namuciraray ( R. 9 22. ) This episode is remarkable because of certain peculiarities. Even in the earlier texts the manner of the killing drew attention. All the versions of the story agree that Namuci entered into a pact with Indra that he would not be killed with something dry or wet, not could he be killed in the daytime or at night So Indra killed him with foam which was neither wet nor dry, and the time was dawn which was neither day nor night.

Another demon stands at dagger's end with Indra. Vedic texts certify that demon Sambara was a nagging problem and Indra was constantly destructing the forts made by this disturbing element :

Yah Sambaram parvatesu ksiyantam
catvarimsyam saradyanvabindat
ojayamanam yo ahim jaghana
danum sayanam sa janasa Indra RV. 1. 12. 12.

From this, Indra acquired his name purandara which is freely used by our poet One of such cases is :

tatah prahasyapabhayah purandaram
punarvabhase turagasya raksita R. 3. 51.

Another old legend which has its base in the RV tells us that Indra cut off the wi gs of the mountains and made them stable In SYV. 17.38. we find the epithet gotrabhit :

gotrabhidam govidam vajr. vahum ........In RV. it is stated :
tvam tamindra parvatam mahamurum
vajrena vajrin parvasascakartitha RV 1. 57,6.

Sayana in his commentary upon RV 2 57 5. gives the gist of the story :

Itastatah prakarsenancato gacchatah sapaksan parvatan
ojasa valena drmhat paksacchedam krtva bhumau drdhleakara.

It is accepted that in the Krtayuga, all the mountains had wings: They used to fly about which sometimes created havoc. The gods requested Indra to put an end to this peril Consequently Indra cut off their wings with his weapon vajra. Kalidasa was wellaware of this legend. He refers to this myth more than once. Different aspects of the story are explained in different verses He states that when confronted by the king of the gods, the mountains put up stiff resistance :

paksacchedodyatam sakram silavarsive parvatah R. 4. 49.

The mountains hid in the ocean to escape onslaught :

paksacchida gotrabhidattagandhah
saranyamenam sataso mahidhrah R. 13. 7.

He catagorically mentions that Mainaka mountain escaped disfiguring as he got a timely warning from his friend wind .

asuta as nagavadhupabhogyam Mainakamambhonidhivaddha-sakhyam
kruddhe'pi paksacchidi vrtrasatravavedanajnam kulisaksatanam K.1 20.

In many places, Indra is described to have a thousand eyes. The poet uses the names sahasraksa and sahasralocana There are two legends which account for this peculiar feature.

MBH. adi. (ch. 215 ) connects the feature with the creation of the beautiful damsel Tilottama. Two demons named Sunda and Upasunda became invincibie. To make a hitch between them, Brahma ordered Visvakarman to create a maiden of unparallel beauty. To match the order, Visvakarman took ingredients from all the beautiful things of the world and created Tilottama. She was so lovely that when she started going round the gods in veneration, Brahma could not take his eyes off her, similar was the condition of Indra.

He found his two eyes inadequate to enjoy the exquisite beauty and immediately a thousand eyes appeared on him to serve his purpose

But the other story is of a more serious nature Different versions of this legend are found in different texts, yet the main points remain the same. Indra felt a lustful attraction towards Ahalya, wife of the sage Gautama. Once when Gautama was away for bathing, Indra took his disguise and took Ahalya to bed. The sage returned early enough to catch them red-handed. His curse made Indra lose his virility, more over, his entire body was stamped with a thousand genital marks Indra was ashamed so much that he could not face the world after that He worshipped goddess Indraksi who changed the offending marks into eyes [1] In another version, the marks were changed by the grace of the sun.[2] The poet points to this peculiar feature of the god in the following verse ;

> tasmin maghonastridasan vihaya
> sahasramaksnam yugapat papata K 31.

His immoral advancement towards Ahalya is mentioned clearly in Vik act II 8, ff. 3 , Ahalyakamukasya Mahendrasya .......... etc.

Another epithet which is frequently used by Kalidasa is satakratu Puranic authorities state that he got the position of the king of gods by successful completion of a hundred sacrifices It was also understood that he would have to hand over his position to anybody who would be able to repeat such a performance. For this, he was ever alert to prevent such a feat by hook or by crook. Out poet appropriately makes him say :

---

1. pp. srstikhanda. 54. 46-47.
2. BV. srikrsna janmakhanda. 47. 31-32.

tatha vidurmam munayah satakratum
dvitiyagami na hi sabda esa nah R. 3 49,

In Vedic period, the word kratu used to mean work, cp.

devo devan kratuna paryabhusayat RV 2.12 7.

Indra was called satakratu because he was believed to have performed hundreds of great deeds. But in later ages, kratu came to mean sacrifice BVpurana says :

pura satamakho darpat kitva makhasatam muda
vabhuve sarvadevanamadhyakah sampada yutah
srikrsna janmakhanda 47 6.

That Indra prevented completion of the hundredth sacrifice by others more than once, is referred to by our poet He describes in this connection, the heated verbal exchange between Raghu and Indra, in the third canto of R. In this conversation, we notice a reference to Sagara's sacrifice which could not be properly completed owing to Indra's resistance :

ato'yamasvah Kapilanukarina pitustadiyasya mayapaharitah
alam prayatnena tavatra ma nidhah padam padavyam
Sagarasya santateh R. 3 50.

Sagara, a renowned king of the Iksevaku race arranged for the performance of the hundredth asvamedha sacrifice One the eve of the sacrifice, he found the horse missing. Indra stole it and hid it in patala at the hermitage of Kapila Sagara sent his sixty thousand sons to look for it and they dug up the earth even for the search. Kalidasa draws our attention to this fact :

guroryiyaksoh Kapilena medhye
rasatalam sankramite turarge
tadarthamurvimavadaradbhih
purvaih kilayam parivardhito nah R. 13.3.

At last they found it at Kapila's hermitage They took it for granted that Kapila was the mischief-maker and started abusing him. Immediately, the sage opened his eyes and the flame of wrath there of reduced them to ashes. Later on, Amsuman, the grand son of Sagara, succeeded in pacifying the sage partially and brought the horse back This portion of the story is also referred to by our poet in Mal act V. cp :

So'hamidanimamsumateva Sagarah pautrena pratyahrtasvo yakaye...

In the end, Bhagiratha succeeded in bringing Ganga to earth and released his forefathers from the bond of the curse.

Indra's scheming role is best exposed in his effort to break the penances of the sages. In Sak, the poet by way of explaining Sakuntala's birth, hints that Menaka was sent to Visvamitra for his distraction and the result was Sakuntala The same ploy was resorted to in the case of the termination of the penance of sage satakarni. The sage spent ten thousand years in a pond practising severe austerities. Indra got alarmed lest he had to loss his position He sent five of his loyal nymphs to divert his attention They seduced the sage and from then on he lived a life of sheer luxury. Our poet mentions this sage in R ; 13 39 In such cases of devious undertaking, he utilises the service of Madana also Kalidasa brings to light such an entente through Madana's own statement :

kenabhyasuya padakanksina te
nitantadirghairjanitatapobhih
yavadbhavatyahitasayakasya
matkarmukasya nidesavarti R. 3. 4

We have already said that Vedic Indra has undergone drastic changes in the following ages and in the process has lost much of

his power and position to other younger gods In the puranic age, he is depicted as a subordinate god who is in awkward position off and on For this, he rushes for help not only to the famous Trinity but also to mortals. Kalidasa mentions at least two such cases. In Sak, king Dusyanta is sent to Indra's help and after the completion of the mission is shown great respect by the king of the gods (sak Act VII. 2 ) In Vik. king pururavas does the same (Vik Act I).

Later mythologies developed a cosy family for Indra. Saci is his wife and Jayanta is his son. His horse is called Uccaisravas, his elephant Airavata His charioteer's name is Matali. These festures were firmly established in our poet's time. the name Saci is also found in Rm. MBh and Puranas. She is believed to be the daughter of the demon (alternately sage) puloman RV at least in one place,[1] refers to Indra as sacipati AV and KYV.[2] do the same. Sayana gives the meaning of the word saci as 'work' in his commentary on RV. 1. 106 6.[3] In later ages the etymology lost its ture meaning and a maiden was supplied to fill up the gap. Kalidasa mentions the fully formed family more than once. For instance :

yatha jayantena Sacipurandarau R. 3 23

and : Paulomisambhavena Jayantena Purandarah Vik. 5.14

The name Matali goes back to the Vedic age [4] In AV too, we see that Indra and Matali are drawn together ·

---

1. RV. 1. 106. 6.
2. AV. 6. 13. 134. 1. 16.13 134 1. 20.3.27 2
3. saciti karmanama.
4. Vp. 69. 141-142.

yanmatali rathakritamrtam veda bhesejam
tadindro apsu pravesayat tadapo datta bhesjam AV. 11 3 8 13

In later ages, Vp narrates a story about the birth of Matali and his attaining the position of the charioteer of Indra.[1]

Actually the conception of Indra is an exllent topic for studying the peculiar working of mythology. The conception at its starting point was nothing but the personification of natural phenomenon which held the simple-minded primitive people awestruck. For the sake of convenience, they imagined a humane form endowed with super-human qualities. The image was gradually strengthened by support of stories describing the power and prominence of the deity He was soon elevated to the supreme position. When the feelings of awe and wonder at natural forces receded, new deities gradually rose to fame, eclipsing the former ones This trend removed this god to the b ckground and brought deities like Visnu and Siva to the lime-light [2]

## Bibliography


| | |
|---|---|
| 1. Hopkins E W. | Epic Mythology. Indological Book House Varanasi, 1968. |
| 2. Hopkins E.W. | The Great Epic of India. Punthi Pustak Calcutta, 1969. |
| 3. Hopkins E.W. | Origin and Evolution of Religion. Bharatiya Vidya Prakashan, Varanasi. |
| 4. Macdonell A A. | Vedic Mythology. Indological Book House, Varanasi, 1963 |
| 5. Wilking W.J. | Hindu Mythology Delhi Book Store Delhi, 1972. |


1 MBh. adi. 63. 5-6, 183-24.

2 Brhat 43 5-6, 23-24.

# Abbreviations

| | |
|---|---|
| AV | Atharvaveda, ed. Durgadas Lahiri. |
| Brhat | Brhatsamhita |
| BV | Brahmavaivartapurana ed. p. Tarkaratna Calcutta 1332 BS |
| K | Kumarasambhava ed. R. Bidyabhusan, Vasumati Sahitya Mandir, Calcutta. |
| KYN | Krsna Yajurveda, ed. Durgadas Lahiri. |
| MBn | Mahabharata, ed Haridas Siddhantavagisa, Calcutta 1347 BS. |
| R | Raghuvamsa - Vasumati edition. |
| RV | Rgveda. ed Durgadas Lahiri. |
| Sak | Abhijnana Sakuntalam ed. R. Bose, Calcutta 1960. |
| Vik | Vikramorvasiya ed. M.R. Kale, Motilal Bararasi dass |
| Vp | Vamanapurana ed Ananda Swarup Gupta. All India Kashiraj Trust. Varanasi 1967. |

# The Problem of Number of Rasas

Dr M C Bhartiya
Reader & Head, Deptt of Sanskrit
M.M H. College (Meerut Univ ) Ghaziabad, U P

The problem of number of rasas has been quite a controversial problem in Sanskrit poetics. We find Bharata enumerating eight rasas - Srngara, hasya, karuna, raudra, vira bhayanaka, bibhatsa, and adbhuta [1] Mamata has added santa to them and has raised the number to nine.[2] Visbvnatha adds one more - vatsala[3] - and make it ten. Rupagosvami takes bhakti[4] also as a rasa and raises the number to eleven. Bhoja enumerates twelve in a some what different way. He accepts eight rasas of Bharata and adds preyan santa, udatta, and uddhata to them [5]

Some Acaryas accept only one rasa as a fundamental rasa and other rasas as its modes. Bhavabhuti for example, accepts only karuna as a fundamental rasa.[6] According to Abinavagupta, santa is the only rasa [7] According to Bhoja, the only real rasa is sringara [8] Narayana, the great grand father of Visvanatha, has propounded that adbuta is the only rasa [9]

---

1. श्रृंगार हास्य करुणरौद्रवीरभयानका
   बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्यं रसा स्मृता : Natya-sasha. 6,15
2. निर्वेद स्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपिनवमो रस । Kavya-prakasa, 6,35
3. स्फुटं चमत्कारित या वत्शल च रसं विदु : । Sahitya-darpana, 3,251
4. Bhakt rasamrta-sindhu-Ujjval-nila-manu
5. श्रृंगारवीर करुणरौद्राद्भुतभयानका ।
   बीभत्सहास्य प्रभास: शान्तोदात्तोद्धता रसा । Sarasvati-kanthabharana, 5,164
6. एको रस: करुण एव । Uttara-rama-carita
7- स्वं स्व निमित्तमासारा शान्तद् भाव: प्रवर्तते ।
   पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते ॥
8- वयं तु श्रृंगारमेव रसनाद् रसमानसाय: । Srrigara-prakas'a 1,6
9. रसे सार: चमत्कार सर्वत्राप्यनुभूयते ।
   तच्चमात्कार सारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रस. ।
   तस्मादद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम् ॥ Sahitya-darpana, 3,2,3,

In order to tackle the problem of number of rasas let us first see what do we actually mean by rasa. Generally speaking, it can be said that rasa is the aesthetic pleasure derived from the experience of artistic creations But is it simply that. No doubt it is an aesthetic pleasure but the two cannot be equated : every artistic creation does not lead to the status of rasa. Rasa is not simply pleasure it is rather a state of continuous pleasure where the experiencer forgets everything else (vedyantarasamparka-sunya) : he merges into the ocean of sentiments. It is of course the sentiment of bhava which leads to rasa, but every experience of sentiment is not rasa. We can distinguish between the state of experience of a bhava and that of a rasa. A bhava rises to the status of rasa only when it is accompanied with vibhava, anubhava and vyabhicari-bhavas, otherwise it is simply the experience of a bhava. In other words we can say that it is the context in a plot of story which raises the bhava to the status of rasa. Bharata, we know, discusses rasa only in context of drama Later poeticians have expanded its scope to other kavyas. But can we experience it in every type of kavya [1] The factor of plot-context is essential for the experience of rasa and that is possible only in prabandha-kavyas, not in muktakakavyas How-so-ever touching a muktaka poetry may be, it is the experience of only bhava, not rasa there When we say that there is such & such rasa in such and such muktaka poetry, we use only figurative language - we use the word rasa for a bhava We do of course imagine a context in muktaka poetry also but that is only instantaneous, it does not give rise to a state of continuous pleasure or rasa.

We also distinguish between sthayi-bhavas and sancaribhavas. We know some sentiments are cominating and leave on us a deep and continuous imprint On the other hand some others are

1. Mammata Kavya - prakasa, IV, 28, urtte

short-lived and effect us only in a temporary and limited way. The dominating type of sentiments are termed as sthayi-bhavas and others as sancari-bhavas. It is only the sthayi-bhavas which are said to rise to the status of rasa The problem of number of rasas is therefore also related to the problem of number of sthayi-bhavas. The number of sthayi-bhavas too have been accepted as eight, nine, ten, eleven and twelve by different Acaryas according to the number of rasas accepted by them. A generally accepted view in Indian poetics is to regard nine bhavas as sthayi-bhavas They are : rati, hasa, soka, krodha, utsaha, bhaya, jugupsa, vismaya and nirveda.[1] Others like vatsala, bhakti etc. are regarded as sthayi-bhavas only in a secondary way. Some of these sthayi-bhavas are undoubtedly dominating and we find full-length kavyas written with them as basic sentiments. Rati or love, for example, is undoubtedly a dominating sentiment and we find numerous Sansskrit kavyas with rati as dominating bhava. Hasa or laughter also is met in several kavyas, specially uparupakas like prahasana, bhana, etc We also find poetic compositions depicting soka, utsaha and nirveda as prominent sentiments, e g. Uttara-rama-carita, Veni-samhara and Nagananda They can also therefore be accepted as sthayi-bhavas Of the other bhavas, bhaya or fear is not found as prominent bhava in any Sanskrit drama, but we do find it in other language carations like the horor films Bhayanaka, Purana Mandira, etc. in Hindi We can therefore accept the dominating nature of bhaya also. But what about krodha, or anger jugupsa or hate and vismaya or wonder ? We have not come across any poetic creation so far where krodha

१. रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा ।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावा प्रकीर्तिता. ॥ Kavya prakasa, IV,30
निर्वेदः स्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः । I bid, IV, 35

or jugupsa are dominating bhavas. Krodha or anger is generally seen accompanying utsaha (firmness or fortitude) and as such can only be regarded as a sancari-bhava: Jugupsa too is never seen as a dominating sentiment in any poetic creation it is only seen here and there used in limited contexts such as in preta-episode of Malati-madhava and raksasa-episode of Venisamhara. This too therefore should not be termed as a sthayi-bhava in the real sense of the term. Vismaya or wonder too is not seen as a dominating sentiment in any ancient poetic creation. But it is certainly a dominating sentiment in modern detective novels. A question can be asked here. Should we regard detective novels as poetic creations ? Detective novels are undoubtedly very absorbing and give rise to a continuous pleasure, like that in a rasa. Still the modern scholars do not feel inclined to accept them as poetic creations. It is because poetry is a creation of heart while detective novels are crations of head more than that of heart. In detective novels we experience a sort of intelectual pleasure not based on sentiments.

But we should not and must not undermine the importance of vismaya or wonder by simply saying that it is a property of head and not of heart In fact, it is not easy to separate heart from head. In sanskrit poetics we find vismaya enumerated as a bhava or sentiment Moreover, discussing the nature of rasa above we have seen that it is the plot context that raises a sthayi-bhava to the status of rasa. Now, what is there in a plot-context that elevates the sthayi-bhava to the status of rasa ? It is nothing but curiosity pervading the whole plot which gives rise to such a position It is only curiosity which makes a plot absorbing and forces the reader to forget every other thing, i e makes the creation vedyantara-samparka-sunya And curiosity is only a form of vismaya or wonder Vismaya therefore plays a key role in a prabandha kavya

It is in fact only this factor which elevates sthayi-bhava to the status of rasa. It therefore pervades every rasa. With this fact in mind perhaps Narayan, the great grand father of Visvanatha, declared that comatkara (wonder) is the essence of every rasa which is experienced everywhere and therefore adbhuta is the only rasa[1] . But if we accept Narayana's we will have to accept detective novels as pieces of poetic creations Otherwise also, vismaya being regarded as a sthayibhava, detecive novels, under the ancient poetic standars will fall under the catagory of kavyas.

I am here inclined to adopt a middle path. Rasa, I feel is a synthesis of head and heart. When sentiments like rati, utsaha, soka etc. are woven into a garland with the help of vismaya as thread, it gives rise to the status ot rasa Rasa touches heart because of sentiments depicted there in and binds and merges the reader's head in a continucus state of absorption, because of the continuous curiosity i e vismaya. Vismaya here no doubt plays a key role but it itself is not rasa. Rasa is a synthesis of the sthsya-bhavas like rati, utsaha, soka, hasa, bhaya and nirveda on the one hand and visinaya on the other.

Coming to the question of number of rasas, therefore, it is clear that the number of rasas, will depend on the number of sthayibhavas combining with vismaya As we have seen above we can take six of the sthayi-bhavas viz. rati, utsaha, soka, hasa, bhaya and nirveda as dominating sentiments without much contr-oversy and they combining with vismaya give i e to six rasas viz, Srngara vira karuna, hasya bhayanaka and santa. only these six in the tecnical sense of the them should be termed as rasa. They all of course, are pervaded by adbhuta which is a common factor in every one of them.

1 Qoted above.

# Indian Women on the War-path of Progress

By Dr. K A Agarwal
Dept. of English
G.K. University, Haridwar

The Bible says, 'The man is not of the woman, but the women of the man,' neither was man created for the woman but the woman for the man ? But Russel defies anyone who finds basis for the view, except that men have stronger muscles than women. Although more than one hundred ten years have passed since this great scholar discarded this notion as false and chauvinistic, but even today this type of notion is continuing and it is absurd to hope that dust would ever settle over it The behaviour of man towards woman has never been fair. Mr. P.N. Tikko is right when he says in his book 'Indian Women.'

"He has always grudged woman a place in society on par with him. Out of selfish arrogance and physical strength man has all along looked down upon her, allowed her a lower position in every walk of life. At best his attitude towards her has been that of ambivalence. Here man has seldom felt like exercising his freewill muster courage of self criticism, see through his selfishness and laugh at himself. Seldom has he objectively pondered over the fact that woman also was, like him, a human being with all human aspirations and a keen sense of self respect, who had to be recognized and honoured."

It is a matter of pleasure that in the present century there has been a healthy change in the attitudes towards women. The charter of the united nations has given better sense of proportion and of fellow feeling and solicitude for woman U.N O. after the second world war (1939-45) has taken the cause of Human Rights. It has

also given emphasis on the equal rights for both men and women To give proper regard to women the year 1974 was declared 'Woman's year' and later on, the whole decade was devoted to their welfare in 1989 a seprate commission for the welfare of women was established. This commussion had given a report of 130 pages in the annual function (1992-93) which was first held after three and a half years of its establishment. The report of this commission gave the actual facts and datas of the progress of women though it also reported some greater pitfalls like dowry, violence, illiteracy, sex-corruption etc. These are some curses which fair sex has to bear. Shakespeare in his 'Julius Caesar' has rightly said :

'The faults, dear Brutus, is not in our stars.
'But in our selves, that we are underlings'

The society is at fault when it ignores the talents and qualities of women. The faults are not in the stars of women Therefore, this commission has given many suggestions to the central government for the upliftment of the status of women. They are registration of marriage, abolition of Sati-Pratha, no child marriage, no sale of girls, participation of women in the government services and one third seats in Lok Sabha and assemblies for women. Now people began to think that woman is not a 'Subspecies' She is a human being with a mind to think and heart to feel. The craving in her mind, to develop her ego, to think independently, to take important decisions about social order side by side with men, is not dead in her. She is not a 'second sex' but an equal sex The old thinking of 'preference' for the male child' is now changing. Now both sons and daughters are given equal importance. The brain washing is a healthy sign in the development of women's personality. Woman was worshipped by our saints in older days.

Swami Vivekanand says, The extent to which society gives equal proportion to its women is a measure of its progress ' In the remote past Manu had pioneered for the progress of women. He was of the opinion of proper education for women Not only Manu, but so many Indian scholars, sages and, of course, intellectual leaders showed a keen solicitude for women's honour and upliftment.

Nature has given physical strangth to man but for women, the bondage of reproduction was a great handicap in the struggle against the hostile world. Pregnancy, child-birth and menstruction reduced her capacity for work. And, therefore, she had to depend upon men for protection and food. As against this, women proved basically reticent and undynamic. She seldom raised a voice in protest. It is the man who desires of maintaining his superior physical status, has invented that divergence, domination and protection of women He has relegated women to a lower position by confining them to the four walls, but later on with the improvement of communications, transport and travelling. India came into contact with the outside world resulting in closer social and cultural intercourse This increased the respectful sentiments towards them. They assumed a new hue and suffered a decline. The great saints and social workers like Keshab Chandra sen, Bankim Chandra Chatterji, Ravindra Nath Tagore, Ishwar Chandra Vidyasagar, raised the importance of women through press and platform. They opposed polygamy and child-marriage. Brahmo Samaj was established which fought for raising the age of marriage for girls and also for giving women higher education, Sati System was opposed by Raja Ram Mohan Roy and the government of India and the Viceroy Lord William, Bentinck declared the system illegal: Swami Dayanand Sarswati also did yeoman's service to women's

cause through Arya Samaj He was a great advocate for wamen's education. Swami Vivekanand drew attention repeatedly to the intellectual fields for woman and blamed the priest craft for relegating them to a backward position by denying them equal rights with men, in education and in the knowledge of scriptures and their propagation Once he said, "If you do not raise the women who are the living embodiment of Divine Mother, don't think that you have any other way to rise. Daughters should be supported and educated with as much as care as the sons. They were also admitted as sanyasins, breaking traditional Hindu taboos on their inclusion in monkdom.

In the last part of the present century the wiser sections of the society began to realize that woman was not the useless counterpart of man, but rather the enchanted spot where the living alliance between man and nature is brought about The government is paying attention towards the education of women, even for the rural women. It is a matter of pride that the women are now taking interest in this field. A large portion of them living in rural ereas are now literate They are helping them selves in uplifting their social progress The social success is possible only with the combined efforts of all the three elements, the governments, the men and the women Fortunately, now the emphasis has been given on the participation of woman in every walk and field of life There is a national consciousness among the populace through press, platform Radio, TV, and other mass-media Now there is a broaden outlook and kindly fellow feelings for women amongst men They have true and equal status like that of men in the sociey Cnr constitution forbids sexual discrimination, quarantees women, social, economic and political justice, liberty of though and expression and equality of status and opportunity side by side with men. Women are now in politics, high offices of the government. They are social reformers educationists, journalists etc In present elections some seats are reserved for them They are contributing in every field and walk of life. They are on the threshold of development. We are sure that in future they will share equal rights and duties with the best cooperation of men.